भट्टारक वर्द्धमान कवि विरचित

वराङ्गचरित

अनुवाद संपादन

मुनि मार्दवसागर
डॉ० राजेंद्र कुमार जैन

:
र
: र र
, . .रे , र(. .)
:- , , .:

- र र
- – र, .र र
- – २०२४
- र :

: र

: र र

, . .रे , र (. .)

:- , , .: ,

) . र

र र,

. .रे , र (. .) – , .:

) र

– . (. .) : –

) र

,रे र, र रे ., र र (. .)

: –

)

, र, – ,

: –

) र

, . .रे ., र

: –

रर :

: ,

* र र

र

र र र र । र र र

। र । । र र

र र , र, र . . र

। र र र

रें र र र

र । र र र । र

।

र ।

र र । र र र र

। रे । र । र र

, र, , र, , , , , , ,

, , । र र . र

। -

र

र :।

र र र र र ।

र र।

र . /

। र र

र , र ।

. । र । ,

र र ।

र ।

. र , र र रर, र ., . - ।

र र र र र
र र । ।
, र
र र । र
। र ।
। । , र
र , ।र र
र । र र र
। । र र र
र । र र र र
र र र र । र र ।
र र र
र र । र र , र,
र । र र ।
। : र
। ,
र र ।
र र र ।
र, र, र र र र । र
र र र र –
: रं ।
र ॥ /
र र र , , : ।
र रे : ॥ /
।
। , , – ,

, ।

, र र र र र

र र र ।

र र –

र :

: ।

रः र रर ॥ /

, र र ,

र , - र , र र , - र र

र र र र ।

र , , ,

, – , र –

। , , र ।

प्रस्तावना

इंदौर (इंद्रपुर) महानगर में प्रवास के दौरान श्री दि० जैन पंचबालयति मंदिर में कुछ दिन का निवास रहा उसी समय हम श्रुत सिद्धांत शोध पीठ, अकलंक देव पुस्तकालय, निकलंक देव वाचनालय भंडार में शास्त्रों का अवलोकन कर रहे थे, तब ब्र० डॉ० राजेंद्र जी को वर्धमान महाकवि विरचित मराठी भाषा में अनुवाद वाली वरांगचरित की एक जीर्णशीर्ण मुद्रित प्रति प्राप्त हुई जो पं० जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले न्यायतीर्थ के द्वारा अनुवादित एवं संपादित है। जो वर्तमान में अनुपलब्ध है। मराठी में अनुवाद होने से हिंदी पाठकों के लिए पढ़ना समझना भी अशक्य है, अतः हिंदीभाषा पाठकों के स्वाध्याय हेतु तथा मूल संस्कृतग्रंथ की रक्षा के लिए यह अनुवाद ब्र० डॉ० राजेंद्र जी के द्वारा मेरे सान्निध्य व सहयोग से किया गया। इसका संपादन मैंने मनोयोग से हस्तलिखित प्रति और मराठी भाषा में मुद्रित प्रति के आधार पर किया है।

अ-मुद्रितप्रति प्रकाशन हीराचंद जयचंद दोशी, वीर निर्वाण संवत् २४५३ प्रथमावृत्ति, कीमत २/-, मुद्रक—वंशीधर उदयराज पंडित, मालिक—श्रीधर छापाखाना, भवानीपेट, सोलापुर।

ब-हस्तलिखित प्रति पूना के शास्त्रभंडार से प्राप्त हस्तलिखित पूर्ण सुवाच्य है। इसी प्रति के द्वारा मुद्रित प्रति में छूटे हुए पाठों को पूरा किया गया है।

वर्द्धमान कवि का वरांगचरित जटाचार्य के समय का विचार करते समय देखा है कि १३ वीं शती तक के ग्रन्थकारों ने विविध रूप से जटासिंहनन्दि का स्मरण किया है। इसके बाद के ग्रन्थकारों का उनके विषय में मौन खटकता है। आचार्य के अनुगामियों का शोधक जब कारण की खोज करता हैं उसे एक ऐसा संस्कृत वरांगचरित मिलता है जिसे रचयिता स्वयं 'संक्षिप्त सैव वर्ण्यते' कह कर प्रस्तुत करते हैं। इसमें कथा वस्तु ज्यों की त्यों हैं। केवल धार्मिक विवेचनों में लाघव किया गया है। इसके निर्माता मूलसंघ, बलात्कारगण, भारतीगच्छ में उत्पन्न परवादि-दन्तिपञ्चानन वर्द्धमान है। डॉ. उपाध्ये के मत से अब तक दो वर्द्धमान कवि प्रकाश में आये हैं। प्रथम हैं न्यायदीपिकाकार धर्मभूषण के गुरु तथा दूसरे हुमच शिलालेख के रचयिता वर्द्धमान हैं इन दोनों का समय तेरहवीं शती से पहिले ले जाना अशक्य है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि वर्द्धमान का वरांगचरित सरलतर होने के कारण प्रचार में आ गया होगा और स्वाध्यायी जटाचार्य के मूल वरांगचरित से दूर हो गये होंगे। यह मराठी अनुवाद सहित सन् १९२७ में पं० जिनदास, सोलापुर द्वारा संपादित है।

कन्नड़ वरांगचरित—संस्कृत कवियों के समान दक्षिणी भाषाओंके कवियोंका मौन भी घरणि पंडित के वरांगचरित के कारण हुआ होगा। इसके लेखक विष्णुवर्द्धनपुर के निवासी थे तथा ई. १६५० के लगभग हुए थे। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों का स्मरण करते हुए एक वर्द्धमान यति का भी उल्लेख किया है। अतः डॉ. उपाध्ये का अनुमान ठीक ही है कि कन्नड़ वरांगचरित का आधार भट्टारक वर्द्धमान कवि का संक्षिप्त वरांगचरित रहा होगा। कर्नाटक कवि चरित्र आ० २ पृ० ४१७। इसकी हस्तलिखित प्रति अपूर्ण है।

लालचन्द्र कृत भाषा वरांगचरित- जटाचार्य की धर्मकथा की लोकप्रियता इसी से सिद्ध हो जाती है कि जब जैन शास्त्रोंके भाषा रूपान्तर का समय आया तो भाषा के विद्वान् वरांगचरित को न भूल सके।

इसके अन्त में लिखा है श्री वर्द्धमान की रचना संस्कृत में होने के कारण सबकी समझ में नहीं आ सकती अतएव उसकी भाषा करना आवश्यक था। इस कार्य को पाण्डेलाल चन्द्र ने आगरा निवासी, बिलालगोत्रीय शोभाचन्द्र की सहायता से माघशुक्ल ५ शनिवार १८२७ में पूर्ण किया था। हरसुखलाल जैन पुस्तकालय की संवत् १९०५ में लिखी गई हस्तलिखित प्रति।

कमलनयनकृत भाषा वरांगचरित- ग्रन्थ की प्रशस्ति के अनुसार यह कृति भी वर्द्धमान के संस्कृत काव्य का भाषान्तर मात्र है। इसे मैनपुरी निवासी श्री कमलनाथ नागरवार ने सम्वत् १८७२ में समाप्त किया था। लेखक के पितामह श्री साहू नन्दूरामजी तथा पिता हरचन्ददास वैद्य थे। ये यदुवंशी बढेला थे, इनका गोत्र काश्यप था। लेखक ने अपने बड़े भाई क्षितिपति का भी उल्लेख किया है। श्री कामताप्रसाद अलीगंज, एटा उ० प्र० की हस्तलिखित प्रति है।

कान्पृच्छामः सुराः स्वर्गे निवसामो वयं भुवि।
किंवा काव्यरसः स्वादुः किंवा स्वादीयसी सुधा॥१॥

अर्थात् क्या काव्यरस स्वादिष्ट है अथवा अमृत स्वादिष्ट है, किनसे पूछें, अमृतभोजी देव स्वर्ग में रहते हैं, हम पृथ्वी पर रहते हैं। इस तरह उक्त पद्यकाव्य में किसी कवि ने काव्यरस की प्रशंसा की है। धनंजय महाकवि ने कहा है कि—'काव्यमेव कवेः स्थितिः' अर्थात् काव्य से ही कवि की स्थिति यानी यश स्थिरता जगव्यापनी कीर्ति होती है। जैसे—जगत् गगनगामी चंद्रमा अंधकार को दूर करता हुआ उद्योत सौम्यप्रभा अमृत की वर्षा करता है। वैसे ही विश्वव्यापी काव्यरूपी चंद्रमा लोक में पुण्यामृत/धर्मामृत की वर्षा करता हुआ अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करता है। सूर्य के समान मिथ्यात्व, कुरीति, अंधविश्वास, मूढ़तारूपी कीचड़ को सुखा देता है। श्रीगुणभद्राचार्य जी का उत्तरपुराण, सकलकीर्ति का श्रीपालचरित, सुकमालचरित आदि अनेक दि० जैनाचार्यों के चरितपुराण एवं कथा आदि के अनेक महाकाव्य और महाकाव्यग्रंथ हैं, जिनके नाम भी नहीं सुने गये हैं उन्हीं में यह महाकाव्य**प्रस्तावना**

इंदौर (इंद्रपुर) महानगर में प्रवास के दौरान श्रकल्प वरांगचरित वर्धमान कवि द्वारा विरचित है। जो प्रसादगुण अनुप्रास आदि अलंकारमय अद्भुत काव्य है। इसमें सभी रसों का यथावसर समावेश हुआ है। तथा कथा का निरंतर प्रवाह बना रहा है। श्री जटासिंह नंदि आचार्यवर्य के प्रथम काव्य के कथा कथन में अन्य सैधांतिक विवेचनों से कथा में व्यवधान आया है, उसको यहाँ सातत्य प्रदान किया गया है। दोनों जिनसेनाचार्यों के महापुराणगत आदिपुराण व हरिवंशपुराण एवं गुणभद्राचार्य का उत्तरपुराण अत्युत्तम महाकाव्य हैं। श्री वीरनंदी आचार्यवर्य का चंद्रप्रभचरित महाकाव्य, कालीदास के रघुवंश काव्य की जोड़ी का है। श्री हरिश्चंद्र कवि का धर्मशर्माभ्युदय तथा जीवंधर चंपू माघकवि के शिशुपालवध व हर्ष कवि के नैषधकाव्य की समानता को लिए हुए हैं। श्री रविषेणाचार्य विरचित पद्मपुराण (रामचरित) अन्य सभी रामायणों में श्रेष्ठतम महाकाव्य है। वर्तमान के आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाकवि के द्वारा रचित जयोदय व वीरोदय महाकाव्य की तुलना में अन्य कोई काव्य देखने, पढ़ने में नहीं आते हैं।

श्री दिगंबर जैन साधु सत्य महाव्रती, आगमानुवर्ती, भाषासमितिधारक, उत्तमसत्यधर्मधारी, निर्भीक, निर्लोभी, वचनगुप्ति के परिपालक स्वाधीन होते हैं। अतः तीर्थंकरों के सत्यसनातन, पुरातन

धर्मधारियों के चरित्रों को सत्यरूप में प्रकट करने का प्रयास करते हैं, अतः अन्य कथानकों की अपेक्षा दि० जैन कथाओं में असंभवपना, कुरीतियाँ, अंधविश्वास, मूढ़ताएँ, मनगढंतपना, अस्वाभाविकता नहीं हैं। क्योंकि जैनधर्म के अंतिम प्रवक्ता तीर्थंकर भगवान् महावीर वर्धमान जिनेश्वर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी थे। उनकी परंपरा में श्रुत-श्रुति, स्मृत-स्मृति, वेद-पुराण, आगम-निगम, अंगपूर्वी विज्ञान प्रवाहित हुआ, वह मूल उद्गम व प्रवाहरूप में शुद्ध व सत्य था। वही उन्हीं जैसे सर्वदर्शी ज्ञानी गौतम गणधर आदि भगवंतों की वाणी से अग्रिम गति को प्राप्त होता हुआ फिर श्रुतकेवली भगवंतों की सुरक्षा में अंतिम श्रुतकेवली विप्रशिरोमणि भद्रबाहु आचार्यदेव को प्राप्त हुआ। उनके मुख्य शिष्य विशाखाचार्य, दूसरे प्रियशिष्य नवदीक्षित चंद्रगुप्त (प्रौष्ठिल, प्रभाचंद्राचार्यवर्य) आदि को प्राप्त हुआ। इन्हीं की परंपरा में माघनंदी, जिनचंद्र, कुंदकुंद, उमास्वामी, समंतभद्र आदि श्रुतधर आचार्य हुए। इन्हीं की परंपरा में आचार्य जटासिंहनंदी हुए जिन्होंने विस्तृतरूप में वरांगचरित लिखा। इन्हीं के अनुसार संक्षिप्त करके श्री वर्धमान कवि ने यह प्रस्तुत वरांगचरित नामक काव्य प्रबंध लिखा। अन्य धर्मों के काव्य; कथानायकों की असंभव काल्पनिक लौकिक, ऐहलोकिक उन्नति का वर्णन करके रुक जाते हैं, किंतु जैन कवियों के काव्य कथानायकों की सत्य संभवित सर्वांगीण अंतिम जीवन वानप्रस्थ आश्रम व सन्न्यास आश्रम द्वारा पारलौकिक उन्नति का दिग्दर्शन कराते हैं। जिसको कालीदासजी ने इस प्रकार कहा है—

शैशवेऽभ्यस्त-विद्यानां, यौवने विषयैषिणां। वार्धिके मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

अर्थात् भगवान् ऋषभदेव के वंशज इक्ष्वाकु सूर्यवंशी/रघुवंशी राजा शिशु/बाल्यावस्था में विद्या का अभ्यास ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन, यौवन/प्रौढ़ द्वितीय अवस्था में वैवाहिक बंधन में पंचेंद्रियों के विषयों का मर्यादित सेवन गृहस्थ आश्रम में प्रवेश, वृद्ध अवस्था में वानप्रस्थ आश्रम मुनि वृत्ति, मुनियों के चरित्र का पालन तथा अंतिम मरण अवस्था में समाधियोग से सन्न्यास आश्रम के साधना मार्ग से शरीर को छोड़ना यह चार आश्रमरूप धर्म को धारण करते थे जो तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित होता है। यह जैनमार्ग सनातन है। इसको जैन काव्य परंपरा में समुचित स्थान दिया गया है।

अकाव व गाय के दूध दोनों श्वेत होने पर भी गुण, फल आदि में बड़े अंतर वाले हैं। यह काव्य व अन्य शब्द मात्र रम्य काव्यों में अंतर है। इसमें पंचपरमेष्ठियों का स्मरण, गुणगान, जिनवाणी की स्तुति फिर समंतभद्र आदि महाकवीश्वरों की स्तुति, कुवादियों की विद्या को जीतने, न्याय, तर्कागम में प्रवीणरूप में की गई है। यहाँ आदि शब्द से सर्वप्रथम वरांग चरित लिखने वाले जटाचार्य को ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। यथा—

समन्तभद्रादि-महाकवीश्वरा, कुवादि-विद्या-जय-लब्ध-कीर्तयः।
सुतर्क-शास्त्रामृतसार-सागरा, मयि प्रसीदन्तु कवित्व-काङ्क्षिणि॥७॥
गणेश्वरैर्या कथिता कथा वरा, वराङ्ग-राजस्य सविस्तरा पुरा।
मयापि संक्षिप्य च सैव वर्ण्यते, सुकाव्य बन्धेन सुबुद्धि-वर्द्धिनी॥११॥

—वरांगचरित प्रथमसर्ग

अर्थात् प्राचीन काल में गणेश्वरों मुनिगणों के ईश्वर/स्वामी आचार्यों द्वारा जो विस्तृत श्रेष्ठ कथा

कही गई है वही कथा मैं वर्धमान भट्टारक संक्षेप करके समीचीन काव्यबंध के साथ सद्बुद्धि को बढ़ाने वाली सत्कथा को कहता हूँ। यहाँ गणैश्वरै बहुवचनांत पद के द्वारा उपलब्ध जटासिंहनंदी आचार्यश्री के विस्तृत वरांग चरित को ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। लगता है कि इनके समक्ष और भी विस्तृत वरांगचरित होंगे अतः अकेले जटाचार्य के वरांगचरित का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, यह बात विचारणीय है।

इस काव्य के अंदर सुंदर शब्द रचना पदावली मनोहारी सत्य अर्थ का प्रकटीकरण है। अतः इसको काव्य कहना सार्थक है। यह महाकाव्य इतना सौंदर्य संपन्न है कि इसमें आदि से अंत तक सर्वत्र अनुप्रास आदि अलंकार व प्रसाद आदि गुण भरपूर भरे हैं। इसमें तेरह सर्ग हैं। आठवाँ सर्ग सबसे अधिक विस्तृत हैं। इसकी संस्कृत भाषाशैली इतनी आर्कषक है कि संस्कृतज्ञ संपूर्ण शास्त्र को पढ़े बिना नहीं रह सकते हैं।

कथा नायक जैन क्षत्रिय राजपुत्र युवराज वरांग कांतपुर के राजा धर्मसेन व गुणदेवी के प्रिय पुत्र थे। इन्होंने भगवान् अरिष्टनेमि तीर्थंकर देव के प्रमुख गणधर श्री वरदत्त आचार्यदेव से सम्यग्दर्शन सहित पाँच अणुव्रत धारण किये थे। इनके सुषेण आदि और भी भाई थे। यह वरांग; सुषेण से छोटा होने पर भी पुण्यशाली, शक्तिशाली, सर्वप्रिय था। पिता जी ने छोटा होने पर भी इस वरांग को ही युवराज की पदवी दी थी। अतः बढ़े भाई सुषेण ने व मंत्री ने छल से विपरीत शिक्षित घोड़े द्वारा इसको राज्य से अलग कर दिया था। कुए में गिरने पर कुए से निकलकर वृक्ष पर चढ़े, व्याघ्र की बाधा को जीत तालाब में मगरमच्छ के मुख से यक्षणी के द्वारा छुड़ाये जाने पर बाहर निकल, भीलों के द्वारा जेल में डाले गये। फिर सागरवृद्धि सेठ के नोकरों के द्वारा पकड़े जाने पर सेठ के द्वारा सम्मानित हुए और वहीं पर रहने लगे, भीलों के द्वारा आक्रमित हुए सेठ को सुरक्षित किया। भीलों के सरदार काल व महाकाल को मार गिराया। कुलाधिप द्वारा ज्येष्ठ भ्राता सुषेण व धर्मसेन पिता के ऊपर आक्रमण करने पर पिता श्री से जा मिले, उसके आने के समाचार से ही वह राजा भाग गया। सभी सुषेण मंत्री आदि माँफी माँगते हैं व कुछ काल राज्य कर वह बड़े भाई सुषेण को राज्य देकर जंगल में पुराने अवशेषों वाले स्थान पर जहाँ श्रीकृष्ण के द्वारा जरासिंध के मारे जाने पर आनंद में यादवों द्वारा नृत्य किया गया था, ऐसे अनेक जिनमंदिरों के अवशेष वाले अनार्तपुर नगर में राज्य बसाते हैं। पुनः युद्ध से भागे हुए कुलाधिप राजा को सबक सिखाने के हेतु सर्वस्व समर्पण के लिए दूत को भेजते हैं, वह कन्या रत्न को ले धन-धान्य सहित आकर क्षमा माँगता है और मनोहरा कन्या प्रदान कर बहुत धन देता है। वरांग उसको श्वसुर बना सम्मानित कर विदा कर देता है।

वह आनर्तपुर में धर्मपूर्वक रहता हुआ अनेक धार्मिक कार्यों को संपादित करने के लिए राज्यभवन के पास विशाल जिनालय बनवाता है, फिर नगर की सभी गलियों में अनेक जिनमंदिर जनता द्वारा यत्र-तत्र सुशोभित किये जाते हैं। उनमें हमेशा शंख, मृदंग, भेरी, घंटा आदि की ध्वनि होती रहती थी। यहाँ अनेक जामुन, जाम, आम, केला, इलायची, कैथा, नीबू, अनार आदि के वृक्ष, कमल सहित सरोवर, बावड़ियाँ मनोहारी थे। वास्तुशास्त्र के अनुसार यहाँ का स्थापत्य शोभित था। वरांग ने सागरांत

वसुधा को वश में कर सागरवृद्धि सेठ को नागपुर के पास का क्षेत्र विदर्भदेश, सेठ के ज्येष्ठ पुत्र को धन-धान्य से परिपूर्ण कौशलादेश/अयोध्या प्रदेश, अनंतमंत्री को पल्लवदेश, अजितमंत्री को विशाला/उज्जैनी/अवंतीदेश का क्षेत्र तथा देवसेन मंत्री को मालवदेश (इंद्रौर के प्रदेश) में स्थापित किया। इस प्रकार सभी को धन-धान्य से संतुष्ट कर स्वयं ने चिरकाल तक आनर्तपुर में राज्य किया धर्म, कर्म, कला, ज्ञान-विज्ञान चारित्र के साथ में शोभा को प्राप्त होते हुए एक दिन अनुपमा स्त्री के महल में जाकर उसके द्वारा दिये गये सिंहासन को सुशोभित किया। धर्मकथा करते हुए दयालु रानी ने पूछा धर्म क्या है? उसने कहा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु से उत्पन्न रत्नत्रय, दस लक्षण, अहिंसा, जीव-रक्षा और वस्तु स्वभाव धर्म है। जीव आदि तत्त्वों में निजात्म तत्त्व का श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरण ही उच्च श्रेणी का धर्म है। गृहस्थों के तीन प्रकार चरित्र अणुव्रत, गुणव्रत व शिक्षाव्रत रूप है। इसका फल स्वर्ग-मोक्षरूप जानना चाहिए।

रानी ने कहा अब हम भोगों से तृप्त हो गये हैं। अब मेरा मन तुम्हारे द्वारा कहे गये जिनप्रणीत धर्म में लगता है। जिनेश्वर शासन की प्रभावना के लिए उस धर्म की प्राप्ति का मूल स्थान विशेष सिद्धायतन/अर्हत् सिद्धालय का निर्माण आपके द्वारा होना चाहिए। मैं उसमें भव्यजीवों के साथ अभिषेक, आह्वान, स्थापना, सन्निधिकरण और पूजनविसर्जन रूप पंचोपचारी पूजन, मुनिवर आदि सत्पात्रों को दान देना चाहती हूँ। धर्मपत्नी की प्रेरणा व स्वयं के उत्साह से वरांग ने विबुध मंत्री से विज्ञ शिल्पियों को बुलवाकर शुद्धभूमि प्रदेशमें नगर के मध्य मज़बूत विशाल शिलाओं की नींव, स्फटिक शिला की दीवालें, वैडूर्यमणि के खंबे, स्वर्ण व उत्तम रत्नों की शिखरों के ऊपर शिखरें मणिमय दंडों के अग्रभाग में लगीं मंदवायु से चंचल, चारों दिशाओं में लगी ध्वजाएँ मीठी आवाज वाली घंटियों से शोभित थी। महाविभूति युक्त मंदिर का चतुर्विध संघ के सान्निध्य में राजा वरांग ने भव्य पंचकल्याणक करवाया। इस प्रकार धर्म व अर्थ पुरुषार्थ को साधते हुए समय बीतता गया, तब कामपुरुषार्थ के फलस्वरूप अनुपमा रानी ने बालसूर्य व पूर्णचंद्र के समान सौंदर्य सम्पन्न, सुगुण, सुलक्षण प्रथम पुत्र सुगात्र को जन्म दिया। जो भोजवंशरूपी कमल को विकसित करने के लिए सूर्य के समान था। एक दिन ब्रह्ममुहूर्त में वरांग ने तेल के कम हो जाने से बुझते हुए दीपक को देख विचार किया कि ये मंदमति मानव संसार के विकारमय दुख को ही सुखमय मानते हैं। ये जीव तेल के समान आयुकर्म के नष्ट होने पर नष्ट हो मर जाते हैं। आर्हत्मत/जैनधर्म से रहित ये अज्ञानी प्राणि दुर्गतियों को प्राप्त होते हैं। अतः मैं इन नश्वर भोगों को छोड़ जैनेश्वरी दीक्षा को ग्रहण कर पापकर्मों को नाशकर मोक्ष को प्राप्त करता हूँ। ऐसा विचार करते हुए प्रातः संध्यावंदन विधि को पूर्ण कर पुत्र को साथ ले, पिताश्री राजा धर्मसेन के पास जाकर अपनी सिद्धि के लिए निवेदन किया तथा आज्ञा माँगी। समझा-बुझाकर पिताजी; गृहस्थधर्म के पालन की शिक्षा देते हैं। परंतु वरांग के तत्त्वोपदेश से पिता जी मौन हो जाते हैं। अब वरांग कहते हैं कि आपका पुत्र यह सुगात्र है आपके द्वारा पालनीय है, मेरे ऊपर क्षमा करें मैं सभी को क्षमा करता हूँ। तब उसी समय ही धर्मसेन राजा दादा जी ने सुगात्र का राज्याभिषेक कर राज्य दे दिया। सभी बंधुओं व निकटजनों से पूछकर व मोह छुड़ाकर इच्छा रहित हो सागरवृद्धि आदि पितातुल्य मित्रों को समझाकर स्वयं हर्षित हो राजकीय

विभूति के साथ स्वर्णमय पालकी पर आरूढ़ हो जहाँ भगवान् अरिष्टनेमि के मुख्य गणधर वरदत्त भगवान विराजमान थे उस पवित्र महावन को प्राप्त हुए। उनको दूर से ही देखकर पालकी को छोड़ अनेक राजाओं के साथ पृथ्वी पर पैदल चलते हुए गणनायक गणधर भगवान की तीन प्रदक्षिणा लगाकर भक्ति से चरणकमलों में प्रणाम किया जिनदीक्षा की प्रार्थना करने पर जगद्गुरु द्वारा जिनदीक्षा दी गई। साथ में सागरवृद्धि, देवसेन, अजितसेन, अनंतमंत्री, चित्रसेनमंत्री आदि अनेक राजा; प्रवृज्या/महाव्रत दीक्षा को प्राप्त हुए । तथा वरांग की सभी स्त्रियाँ गणधर भगवान् की आज्ञा से आर्यिकाओं के समीप जाकर आर्यिकाव्रत को प्राप्त हुईं। धर्मध्यान की उत्कृष्टता से तपस्या करते हुए आयुकर्म के क्षय होने पर वरांग महामुनींद्र अंतिम स्वर्ग सर्वार्थसिद्धि में महर्द्धिक देव हुए, एक भव बाद मोक्षपुरुषार्थ को सिद्ध करेंगे। अन्य राजर्षि सागरवृद्धि आदि मुनिवर भी यथायोग्य स्वर्ग को प्राप्त हुए। अनुपमा, मनोहरा आदि पत्नियाँ भी आर्यिका के योग्य स्त्रियोचित तप करके स्वर्ग को प्राप्त हुईं। इस प्रकार ग्रंथ समाप्त हो जाता है। मूलसंघ में पृथ्वी पर प्रसिद्ध बलंकारगण था उसके भारतीयगच्छ में वर्धमान नाम का कवि सर्वगुण संपन्न हुआ ऐसे मैंने यह पवित्र चरित्र ग्रंथ लिखा। जो इसको सुनता, पढ़ता है वह कल्याण कलित होता है। १३८३ पद्य प्रमाण संपूर्ण ग्रंथ की संख्या बताते हुए शास्त्र समाप्त हो जाता है। इसका संपादन परिश्रम साध्य था अतः समय अधिक लग गया। इसमें ब्र० डॉ० राजेंद्र का प्रयास प्रशंसनीय है। कंपोजिंग सुधाररूप कार्य ब्र० संतोष जी आमनपुर, जबलपुर का सराहनीय है। ब्र० लक्ष्मीचंद्रजी, ब्र० प्रशांतजी, ब्र० महेंद्र जी, पं० वीरेंद्र जी, श्रीमान् सुरेशचंद्र जी, पठा आदि सबके सहयोग से यह कार्य हुआ है, इसलिए सभी को ज्ञानवृद्धिरूप आशीर्वाद।

श्रीपंचबालयति दि० जैन मंदिर ट्रष्ट के मुख्यकर्णधार ब्र० सुरेश व ब्र० जिनेश मलैया जी द्वारा इसके छपवाने का विचार ज्ञानप्रसार भावना को दर्शाता है। जो प्रशंसनीय है। इनके लिए धर्मवृद्धिरूप सद्भावना है।

अलमिति विस्तरेण भद्रं भूयात्।

मुणि मद्दवसायर

तिथि वैशाख वदी दशमी के मध्यान्ह/संध्या काल में मुनिसुव्रतनाथ भगवान के जन्म दीक्षा कल्याणक दिवस पर यह वरांग चरित्र का हिन्दी अनुवाद कार्य पूर्ण हुआ। साढ़े तीन करोड़ मुनियों की निर्वाण स्थली मूलनायक शान्तिनाथ भगवान की अनुपम प्रतिमा से सुशोभित सह्याचल सिद्धक्षेत्र पर संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परमशिष्य मुनि श्री मार्दवसागरजी महाराज के सन्निधान और आशीष अनुकम्पा के छाँव तले यह कार्य पूर्ण हुआ, एवं इसके संशोधन का कार्य मुनिश्री मार्दवसागर जी महाराज के द्वारा, आष्टा नगर के अरिहंतपुरम् चंद्रप्रभजिनालय के संत-भवन में २०२३ के चातुर्मास के दौरान संपूर्ण हुआ। इस अनुवाद के शुद्ध लेखन का कार्य ब्र. प्रशान्त जी ने किया है।

डॉ० राजेंद्र कुमार जैन

—सोमवार २५ अप्रैल, २०२३

प्रथमः सर्गः

श्री वराङ्गचरित्रम्

जिनस्य संज्ञान-मयैक-दर्पणे, जगत्समस्तं प्रतिबिम्बतां गतम्।
स यस्य संसार-विमोहितात्मनां, पुनातु चेतांसि सतां निरन्तरम्॥१॥
विशुद्ध-सद्ध्यान-बलेन केवलं, सुबोध-मासाद्य समस्त-कर्मणाम्।
विधाय नाशं शिव-सौख्य-माश्रिता, भवन्तु सिद्धा मम ते विशुद्धये॥२॥
विनश्वरे वस्तुनि निःस्पृहाशयाः, स्मरन्ति चित्तेऽव्यय-चिन्मयं महः।
प्रभावतस्तस्य च यान्ति ये शिवं, श्रियं प्रदद्युर्गणिनोऽपि तेऽत्र मे॥३॥
श्रुतं सदाचार-विचार निर्मलं, पठन्ति शिष्यानपि पाठयन्ति ये।
दुरन्त-मिथ्यापथ-मन्थनोद्यतास्ते पाठका मेऽपहरन्तु दुष्कृतम्॥४॥
दमक्षमा-संयमभावितान्तरास्तपोऽखिलं सार-हितं वरन्ति ये।
शवाङ्गनालिङ्गन-काङ्क्षिणः सदा, दिशन्तु मुक्तिं जिनसाधवोऽपि ते॥५॥
अवाप्य यस्याः समनुग्रहं बुधः, प्रशस्तशास्त्रं रचयन्ति च क्षणात्।
प्रयान्ति पारं श्रुतसागरस्य सा, समीहितं मे वितनोतु भारती॥६॥
समन्तभद्रादिमहाकवीश्वराः, कुवादिविद्याजयलब्ध-कीर्तयः।
सुतर्क-शास्त्रामृत-सारसागरा, मयि प्रसीदन्तु कवित्वकाङ्क्षिणि॥७॥

जिन जिनेन्द्र देव के केवलज्ञान रूपी अद्वितीय दर्पण में जगत के समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बता/दृष्टिगोचरता/दृश्यपने को प्राप्त हुए हैं। वह श्री जिनेन्द्र, संसार में विमोहित है आत्मा जिनकी ऐसे मोही जीवों को और सज्जनों के मनों को निरन्तर पवित्र करें।१। जिन्होंने विशुद्ध समीचीन ध्यानके बल से समस्त कर्मों का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्तकर मोक्ष सुख का आश्रय लिया है—वे सिद्ध भगवान मेरी विशुद्धि के लिए होवें।२। विनाशीक वस्तुओं में जो इच्छा से रहित हैं और मन में अविनाशी ज्ञान दर्शन चैतन्य मय तेज का स्मरण करते हैं और इसके प्रभाव से मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं, वे इस लोक में आचार्य परमेष्ठी मुझे मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करावें।३। जो सदाचार के विचार से निर्मल शास्त्र को स्वयं पढ़ते हैं व शिष्यों को भी पढ़ाते हैं और जो जिसका नाश करना कठिन है ऐसे मिथ्यामार्ग के निराकरण में तत्पर रहते हैं ऐसे वे उपाध्याय परमेष्ठी मेरे पाप कार्य को दूर करें।४। इन्द्रिय दमन, क्षमा, संयम से भावित है अन्तःकरण/मन जिनका तथा जो सारभूत हितकारी सम्पूर्ण तप को वरण करते हैं और जो सदा मोक्ष रूपी स्त्री के आलिङ्गन को चाहते हैं वे जिन साधु भी मुझे मोक्ष को देवें।५। जिसके अनुग्रह को प्राप्त कर विद्वान् लोग क्षण भर में समीचीन शास्त्र को रचते हैं और श्रुत सागर के पार को प्राप्त करते हैं वह सरस्वती जिनवाणी मेरी इच्छा को पूर्ण करें।६। कुवादियों की विद्या के जीतने से कीर्ति को प्राप्त करने वाले और न्याय शास्त्र रूपी अमृत को उत्पन्न करने के लिए समुद्र रूप समन्तभद्र, जटासिंहनंदि आदि

स्तुवन्तु सन्तः प्रहसन्तु दुर्जना, न वेदना कापि ममात्र मानसे।
विनान्यथा तद्गुणदोषचिन्तनं, प्रयात एतौ हि कथं [1]कृतार्थताम् ॥८॥
विशुद्ध-बुद्धया कवयो विमत्सरा, विशोध्य सिद्धिं च नयन्तु मत्कृतिं।
हिरण्यरेता इव सर्वदूषणं, विदूर-मुत्सार्य जनेषु काञ्चनम् ॥९॥
कृते कवित्वे कविभिर्मनोहरे, न याति तोषं भुवि दुर्जनो जनः।
अणुप्रमाणेऽपि गुणेऽपि सज्जनास्तथापि तुष्यन्ति ततः करोम्यहं ॥१०॥
गणेश्वरैर्या कथिता कथा वराङ्ग, वराङ्गराजस्य सविस्तरं पुरा ।
मयापि सङ्क्षिप्य च सैव वर्ण्यते, सुकाव्यबन्धेन सुबुद्धिवर्द्धनी ॥११॥
वराङ्ग-नामा क्व महानरेश्वरः, क्व वा मदीया नियताल्पशेमुषी।
क्व कल्पशाखा-फल-मभ्र-चुम्बितं क्व तस्य लिप्सुर्हत-बाहु-वामनः ॥१२॥
[2]विदीपिते वर्त्मनि पूर्वसूरिभिर्न गन्तुकामस्य [3]ममापि दूषणम्।
शशाङ्क-भानू नभसीह गच्छतश्चलन्ति किं तत्र न बालतारकाः ॥१३॥

१. यथार्थतां। २. विदीयते। ३. ममाथ।

महाकवीश्वर कवित्व को चाहने वाले मुझ वर्धमान कवि पर प्रसन्न होवें।७। यहाँ इस काव्य के विषय में सज्जन प्रशंसा करें और दुर्जन उपहास करें तो भी मेरे मन में किसी व्यक्ति के प्रति कोई भी पीड़ा, राग-द्वेष रूप विकल्प नहीं हैं। उस काव्य के दोषों व गुणों के चिंतन के बिना ये सज्जन व दुर्जन अन्य प्रकार से कृतकृत्यता को कैसे प्राप्त होंगे? ।८। जैसे स्वर्ण संबंधी सभी दोषों को निकालकर अग्नि दूर करती है उसी तरह मात्सर्य, ईर्ष्या भाव से रहित कविगण (जटासिंहनंदी आदि आचार्य) विशुद्ध बुद्धि से मेरी इस कृति/रचना को शुद्ध कर मनुष्यों में सिद्धि/प्रसिद्धि को प्राप्त करावें।९। पृथ्वी पर कवियों के द्वारा मनोहर काव्य रचने पर भी दुर्जन मनुष्य संतोष को प्राप्त नहीं होते हैं और अणु बराबर थोड़े गुण होने पर भी सज्जन पुरुष संतोष को प्राप्त होते हैं, इसलिए मैं प्रसादादि अल्प गुण वाले इस काव्य की रचना करता हूँ ।१०। पूर्व काल में गणधर आचार्यों, जटिल आदि आचार्यों के द्वारा वरांग राजा की जो श्रेष्ठ कथा विस्तार सहित कही गई है वह ही मेरे द्वारा (वर्द्धमान कवि के द्वारा) संक्षिप्त करके सद्बुद्धि को बढ़ाने वाली अच्छे काव्य बंध के द्वारा निबद्ध करके वर्णन की जाती है। इस पद में 'गणेश्वरैः' बहुवचनांत पद द्वारा वरांग राजा की कथा कहने/लिखने वाले जिनसेन आदि दिग्गज आचार्यों द्वारा स्मरण किये गये जटासिंहनंदी का स्मरण उल्लेख जानना चाहिए।११। वराङ्ग नामक महाराजा कहाँ और मेरी निश्चित अल्प बुद्धि कहाँ, आकाश को छूने वाले कल्पवृक्ष की शाखा पर लगा हुआ फल कहाँ और उसको चाहने वाला नष्ट छोटी भुजाओं वाला मैं कहाँ।१२। तथा पूर्वाचार्यों द्वारा दिखाये गये मार्ग पर चलने के इच्छुक मुझे कोई दोष नहीं है, क्योंकि जहाँ आकाश में चन्द्रमा और सूर्य चलते हैं वहाँ क्या छोटे-छोटे तारागण नहीं चलते? अर्थात् चलते ही हैं।१३। इस भारतवर्ष में जम्बुवृक्ष की सुन्दर संज्ञा से सहित जम्बु नामक

इहास्ति जम्बूतरुचारुसंज्ञया, सविस्तरो द्वीपवरो धरातले।
मितो महत्या लवणाब्धिवेलया विलोलकल्लोल[1]रमाभिरामया॥१४॥
मनोहराखण्ड-सुमण्डलान्वितं प्रपाल्यमानं प्रतिभाति बाहुजैः।
अजेय शक्तिप्रभवै-रनारतं पवित्र-वास्यं परमत्र भारतं॥१५॥
महीधरग्राम-मटम्ब-पत्तनैः, सकर्वटैर्द्रोणमुखैर्नदीनदैः।
प्रफुल्ल - राजीव - सरोभि - रुन्नतैर्विनीत - देशोऽत्रविराजतेऽवनौ॥१६॥
प्रसिद्ध-सौम्याचल-नामपर्वतो, विशालशृङ्गो गगनाग्र-चुम्बितः।
समस्ति तस्यापि समीपवर्तिनी विभाति रम्येति नदी सदोदका॥१७॥
पुरं [2]पुराणां परमर्द्धि-शालिनां [3]पुरन्दरं ग्राम-समान-धर्मिणां।
पुरःसरं कान्तपुरं पुरातनं, विराजते तत्र महर्द्धि-वर्द्धितम्॥१८॥
समन्ततो यत्र सिताः पताकिका हताः प्रसर्पंत्यनिलेन सर्पता।
समस्त-चैत्यागरु-धूपधूमकं, निवारयन्तीव सुदूरमन्वहम्॥१९।
विभान्ति यत्र स्फटिकाश्म-निर्मिता, जिनालयाः काञ्चन-दण्ड-केतुभिः।
महोन्नता स्वोज्ज्वल-भूरि-शोभया, स्फुटोपमाः श्रीरजताद्रि-सानुभिः॥२०॥
जिनेश-वेश्मोद्यत-वाद्यसम्भवो, ययौ निनादः पृथु-दिक्तटान्तरं।
मदेभ-कुम्भस्थल-भेदकोऽत्र किं, बभूव मन्ये जिनसिंह-सुध्वनिः॥२१॥

१. रसा—। २. पुराणं। ३. पुरन्दग्राम।

एक लाख योजन विस्तार सहित द्वीपों में श्रेष्ठ द्वीप है जो चंचल लहरों की शोभा से सुन्दर विशाल लवण समुद्र के किनारे से मर्यादित है।१४। इस जम्बूद्वीप में मनोहर अखंड अच्छे मण्डलों/देशों से सहित, अजेय शक्तिसे उत्पन्न क्षत्रियों से निरन्तर परिपालन किया जाता हुआ पवित्र क्षेत्र श्रेष्ठ भारतवर्ष है।१५। इस पृथ्वी पर ऊँचे पर्वत, ग्राम, मटम्ब, पत्तनों के द्वारा कर्वट, द्रोणमुख और नदियों और नदों से सहित और खिले हुए कमलों वाले सरोवरों से यह विनीत देश सुशोभित है।१६। आकाश के अग्रभाग को छूने वाला विशाल शिखरों वाला प्रसिद्ध सौम्याचल नामक पर्वत है। उसके समीप में बहने वाली पर्याप्त जल से युक्त सुंदर/रम्या इस नाम की नदी सुशोभित होती है।१७। वहाँ उस विनीत देश में विशाल समृद्धि/संपत्ति से सम्पन्न इन्द्रों के समूह के समान धर्म वाले नगर निवासियों से अग्रगण्य महान् वैभव से बढ़ा, प्राचीन कांतपुर नाम का नगर; नगरों में सुशोभित था।१८। जिस कान्तपुर में प्रतिदिन सफेद ध्वजायें वायु से ताड़ित होकर आगे बढ़ती हुई फहराती हैं। जो सभी चैत्यालयों/मन्दिरों के अगुरु धूप के धुएँ को बहुत दूर तक निवारण करती/हटातीं हुई सी जान पड़ती हैं।१९। यहाँ स्फटिक पत्थर से निर्मित जिनालय सोने की दण्ड वाली ध्वजाओं से बहुत ऊँचे अपनी निर्मल अत्यधिक शोभा से स्पष्ट उपमा वाले शोभा सम्पन्न रजताचल (विजयार्द्ध) पर्वत की चोटियों के समान सुशोभित होते हैं।२०। जिनेन्द्र भगवान के मन्दिर से उठी हुई वाद्य यन्त्रों से उत्पन्न जोरदार आवाज विस्तृत दिशाओं के अन्तिम छोर तक प्राप्त हुई। इस विषय

तपस्विनो यत्र कृशाङ्ग-यष्टयो, निवारयन्तः प्रतिभान्ति चार्हताः।
विलोकनादेव-विशुद्ध-चेतसां, भवान्तरोपार्जित-पापसञ्चयम् ।।२२।।
स्वहार-लीलोन्नत-पीवरोल्लत्सत्कुचद्वयेनात्र कुरङ्ग-लोचनाः।
ग्रहर्क्ष- मालाङ्कित-मेरु-शृङ्गकं, हसन्ति लीला-चलितोरु-लोचनाः ।।२३।।
नवाङ्गना-नूपुर-पाद-पातजा, रवा युवानं प्रतिबोधयन्त्यमी।
निवासगेहे प्रथमं व्यवस्थितं, निमीलिताक्षं निशि कामनिद्रया ।।२४।।
परोपकारव्यसनानुरागिणः, परस्परप्रेमगुणावधारिणः।
वसन्ति यत्रैव कुटुम्बकोपमा महाधना निर्मल-कीर्तयो जनाः ।।२५।।
मणिप्रवालोत्तम-काञ्चनाम्बर,-प्रशस्त-मुक्ताफल-हारकोटिभिः।
क्रयाणकैश्चान्यतमैः प्रपूरिता, जयन्ति यत्रापण-गेह-राजयः ।।२६।।
स्त्रियः सुरस्त्रीसम-रूप-विभ्रमा, नराः सुरैर्यत्र समानतां गताः।
सुसाध्यतां यान्त्यखिलाश्च सम्पदः, पुरं कथं तत्परिवर्ण्यते मया ।।२७।।
नृपोत्तमो यो हरिवंश-कीर्तितो, बभूव भोजः प्रथितो महीतले।
श्रीधर्मसेनोऽपि तदीय-वंशज; प्रशास्ति तत्कान्तपुरं महीपतिः ।।२८।।

में मैं यह मानता हूँ कि जिनेन्द्र देव रूपी सिंह की अच्छी ध्वनि वादी रूपी मत्त हाथियों के गण्डस्थल को भेदने वाली है ।२१। यहाँ विनीत देश के कांतपुर नगर में अर्हन्त भगवान् को मानने वाले कृश शरीर दिगम्बर मुनि विशुद्ध चित्त वाले लोगों के कई भवोंमें उपार्जित पाप के संचय को दर्शन मात्रसे दूर करते हुए सुशोभित होते हैं ।२२। इस नगर में अपने हार के विलास की क्रीड़ा से ऊँचे स्थूल शोभायमान स्तनयुगल से और लीला से चंचल हिरणी के समान विशाल नेत्र वाली स्त्रियाँ अपनी शोभा से ग्रह और नक्षत्रों की माला से चिन्हित/सहित सुमेरुकी चोटी को हँसती है ।२३। नव यौवनवती स्त्रियों के नुपूर युक्त पैरों के रखने से उत्पन्न हुए शब्द युवाओं को यह बोध देते हैं कि वह पहले निवास रहने वाले घर में व्यवस्थित रहता है और रात्रि में काम निद्रा से आखें बन्द कर लेता है। २४। जहाँ परोपकार रूप व्यसन के अनुरागी, परस्पर में प्रेम गुणों को धारण करन वाले, निर्मल कीर्ति वाले, एक कुटुम्ब के समान महा धनी मनुष्य रहते हैं ।२५। यहाँ मणि (रत्न) मूँगा, श्रेष्ठ सोना, वस्त्र उत्तम मोतियों के करोड़ों हारों से अन्य बेचने योग्य वस्तुओं से भरे हुए दुकानों से घरों की पङ्क्तियाँ (सभी अपेक्षा से) जयवंत/ सफल होती हैं ।२६। यहाँ पर स्त्रियाँ देवाङ्गनाओं के समान रूप, हाव, भाव और विलास वाली है और पुरुष देवों के समान रूप, हाव, भाव और विलास की समानता को प्राप्त हैं। वे सभी सम्पदाओं की सुसाध्यता को प्राप्त होते है उस नगर का वर्णन मुझ वर्द्धमान कवि के द्वारा कैसे किया जा सकता हैं ।२७। इस पृथ्वी तल पर पहले हरिवंश में प्रसिद्ध मनुष्यों में उत्तम भोज नाम का राजा था तथा उसी राजा भोज के वंश में उत्पन्न हुआ धर्मसेन राजा उस कांतपुर का प्रशासक है ।२८। अच्छी तरह से साधा है दिशाओं के समूह को

प्रसाधिताशा-वलयो नयालयः, प्रचण्ड-दोर्दण्ड-जितारि-मण्डलः।
प्रपालिताशेषजनो निरञ्जनो, विराजतेऽसाविह राजदीधितिः॥२९॥
दृढव्रतोऽर्हन्मत-मार्गसेवकः, पदार्थ-तत्वामल-भाव-भावितः।
पवित्र-चारित्र-शरीर-भूषणो, गुरुन्सुबन्धूश्च यजञयत्यसौ॥३०॥
मनोहरा भर्तरि भक्तिबुद्धयः, प्रिया बभूवुर्नृपतेः प्रियङ्कराः।
मृगादिसेना गुणदेविकाग्रिमाः, प्रमाणमासां त्रिगुणीकृतं शतम्॥३१॥
मराल-लीलागतयः स्मितानना: कुरङ्गनेत्राः सुगभीर-नाभयः।
पिकस्वराः काञ्चन-कान्ति-कान्तयो, बभुर्महीपालनितम्बनीजनाः॥३२॥
यथेऽप्सितानिंद्रिय-पञ्चकोचितांश्चतुर्गुणान्सप्त-मितान्-कृतादरः।
स्वकामिनीभिर्विषया-ननेकधा, चिरं स राजा बुभुजेऽन्यदुर्लभान्॥३३॥
शुभे विलग्ने ग्रह-योग-सत्तिथौ त्रिकोणगैः केन्द्रगतैः शुभग्रहैः।
गुणादिदेवी वसुधाधिपप्रिया वराङ्ग-नामान-मजीजनत्सुतम्॥३४॥
स्वदेह-लग्नाभरणादिकं नृपो, ददौ नरायात्मज-जन्मवादिने।
विमोच्य काराग्रह-वास-पीडितान्पुरे जनान्कारयति स्म मङ्गलम्॥३५॥

जिसने, प्रचण्ड भुजाओं रूपी दण्ड से जीता है शत्रुओं के समूह को जिसने ऐसा न्याय का घर, पालन किया है सम्पूर्ण प्रजाजनों को जिसने ऐसा निष्पाप यह राजा रूपी चन्द्रमा कान्तपुर में सुशोभित है।२९। सर्व पूज्य अर्हत् देव के मत के मार्ग का सेवक, व्रतोंका दृढ़ता पूर्वक पालन करने वाला, पदार्थ और तत्त्वों के निर्मल भाव से भावित और पवित्र चरित्र ही जिसके शरीर का आभूषण है, ऐसा यह राजा गुरुजनों और बंधुजनों का सत्कार करता हुआ जयवंत है।३०। मन को हरण करने वाली, पति में भक्ति युक्त बुद्धि वाली, प्रिय करने वाली राजा की रानियाँ थीं उनमें मृगसेना व गुणदेवी प्रधान थीं, इस राजा की रानियों का प्रमाण तीन सौ था।३१। इस राजा की रानियाँ हंस पक्षी के समान गति वाली, प्रसन्न मुख वाली, हिरण के नेत्रों के समान आँखों वाली, सुन्दर गहरी नाभि वाली, कोयल के समान मधुर स्वर वाली, स्वर्ण के समान पीली कान्ति वाली थीं।३२। इसके बाद उस राजा ने अभिलसित पाँचों इन्द्रिय संबंधी स्पर्श रस गंध व वर्ण इन चार गुणों व सात स्वर रूप अनेक प्रकार से विषय भोगों को आदर सहित अपनी स्त्रियों के साथ चिरकाल तक भोगा था जो कि अन्य लोगों के लिए दुर्लभ थे।३३। उस धर्मसेन राजा की रानी गुणदेवी ने त्रिकोण केन्द्र में स्थित शुभ ग्रहों के द्वारा शुभ लग्न, शुभ ग्रह, शुभ योग व शुभ तिथि में वरांग नामक पुत्र को जन्म दिया।३४। उस राजा ने अपने शरीर में पहने हुए आभूषण आदि को पुत्र के जन्म की सूचना देने वाले मनुष्य के लिए दे दिए। कारागृह में रहने से दुखी कैदी मनुष्यों को नगर में छुड़वा कर मंगल कार्य करवाया।३५। वह वराङ्ग बालक माता-पिता के शुभ मनोरथोंको व बन्धुजनों की अभिलाषाओं को बढ़ाता

पितुश्च मातुः स शुभान्मनोरथान्विवर्धयन्बन्धु-जनाभिवाञ्छितान्।
श्रुतैः शरीरावयवैर्दिने दिने कलागुणैर्वृद्धि-मवाप बालकः ॥३६॥
सुधर्मलाभाय कुधर्म-हानये, श्रुतं समस्तं समधीतवा-नसौ।
विवेक-सौजन्य-यशोभिवृद्धये, चकार धीमान् गुणिनां च सङ्गमम् ॥३७॥
नयेन नीत्या यशसानुकम्पया, परोपकारेण च पौरुषेण सः।
वचोभिरानन्द-करैर्महीपतेस्ततान तोषं स्वजनस्य मानसे ॥३८॥
सयौवनाः सद्गुण-कान्तविग्रहाः शशाङ्क-कीर्तिप्रभवाः प्रजज्ञिरे।
मृगादिसेनादिषु कामिनीष्वमी, सुषेणमुख्यास्तनया धरापतेः ॥३९॥
नृपाङ्गजेषु प्रबलेषु सद्गुणैर्वराङ्गनामा शुशुभेऽधिकं सुतः।
प्रकाशयन्लोक-मशेष-तेजसा, यथा ग्रहर्क्षेषु च पूर्णचन्द्रमाः ॥४०॥
मनस्विनी - मानस - धैर्य - चन्दनप्रपञ्च - [१]पुञ्जानवयौवनोदयम्।
क्रमेण बालत्व-मपास्य कोमलं, बभार कायेन नरेन्द्र-नन्दनैः ॥४१॥
सुतं विलोक्येति विवाह-मङ्गलोचितां दशां प्राप्त-मचिन्तयन्नृपः।
कुलेन कान्त्या वयसापि कामिनी, समानता-मेष्यति का सुलक्षणा ॥४२॥

---

१. पुञ्जं।

हुआ शास्त्र ज्ञान के द्वारा, शरीर के अवयवोंके द्वारा और कला गुणों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुआ।३६। वराङ्ग राजपुत्र ने सुधर्म की प्राप्ति के लिए कुधर्म की हानि के लिए सभी शास्त्रोंको पढ़ा। विवेक, सौजन्य और यश की वृद्धि के लिए गुणवान व बुद्धिमानों की संगति को किया।३७। राजनीति लोक व्यवहार, यश, दया, परोपकार और पुरुषार्थ के द्वारा आनन्द को करने वाले अपने वचनों द्वारा उस राजपुत्र वराङ्ग ने राजा और स्वजनों के मन में संतोष को बढ़ाया।३८। उस धर्मसेन राजा के मृगसेना आदि रानियों में सुषेण है मुख्य जिनमें ऐसे यौवन सहित सद्‌गुणों से कान्तियुक्त शरीर वाले, चन्द्रमा के समान कीर्ति को उत्पन्न करने वाले पुत्र को उत्पन्न हुए।३९। बालवान राजा के पुत्रोंमें सद्‌गुणों के द्वारा वराङ्ग नामक पुत्र अधिक शोभा को प्राप्त हुआ। जैसे सम्पूर्ण तेज से लोक को प्रकाशित करता हुआ ग्रह और नक्षत्रों में पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होता है।४०। धर्मसेन राजा के पुत्रों ने शरीर से क्रमशः कोमल बाल्य अवस्था को छोड़कर शरीर के द्वारा क्रम से स्त्रियों/युवतियों के मन के धैर्य के लिए चंदन के विस्तार के समूह स्वरूप नवयौवन के उदय/प्रारम्भ को धारण किया।४१। इस प्रकार विवाह मंगल के योग्य दशा को प्राप्त पुत्र को देखकर राजा विचार करता है कि कुल से कान्ति/सौन्दर्य से और अवस्था से कौन सी सुलक्षणा काम्या कन्या स्त्री इसकी समानता को प्राप्त होगी।४२। प्रीति युक्त मन वाले राजकुमारोंने हितकारी व यथार्थ अत्यधिक मधुर वचनों के द्वारा सम्पूर्ण जनों के मन को प्रसन्न करते हुए विद्वान् की समीपता से प्राप्त किया

अति-मधुर-वचोभिः, पथ्यतथ्यैः कुमारो, निखिल-जन-मनांसि प्रीणयन्प्रीतिचित्तः।
विबुध-जन-सकाशाल्लब्धतत्त्वोपदेशो, नृपति-कुल-मशेषं भूषयामास सम्यक् ॥४३॥
निजकुल-समभूपस्यात्मजां वीतदोषां, गुणगण-परिपूर्णां रूपसौभाग्य-युक्ताम्।
उभयकुल-विशुद्धां चिन्तयन्नात्म-चित्ते, तनय-वरण-योग्यां धर्मसेनो नृपोऽस्थात् ॥४४॥
जगति विदित-मेतत्पुण्य-भाजां जनाना-मभिलषित-समस्तं सिद्धिमायाति सद्यः।
सुकृत-रहित-पुंसां सिद्धिमप्येति नाशं, तदिह मनुजवर्या धर्ममेवार्जयन्तु ॥४५॥

इति श्री परवादि-दन्ति-पञ्चाननश्रीवर्धमान-भट्टारकदेवविरचिते
वराङ्गचरित्रे वराङ्गोत्पत्तिवर्णनो नाम प्रथमसर्गः ॥१॥

है तत्वों के उपदेश को जिन्होंने ऐसे राजपुत्रों ने राजा के सम्पूर्ण कुल को अच्छी तरह सुशोभित किया था।४३। धर्मसेन राजा दोषोंसे रहित गुणों के समूहों से परिपूर्ण रूप सौभाग्य से युक्त उभय कुल यानी मातृ व पितृ कुल से विशुद्ध पुत्रोंके वरण के योग्य अपने कुल के समान राजाओं की पुत्रियों को अपने में चिन्तन करता हुआ स्थित था।४४। जगत में यह ज्ञात है कि पुण्यशाली जनों के ही अभिलषित सभी सिद्धियाँ शीघ्र ही सिद्धि को प्राप्त होती हैं, और पुण्य रहित पुरुषों के सभी सिद्धियाँ नाश को प्राप्त होती हैं। इसलिए इस लोक में श्रेष्ठ मनुष्यों को धर्म का ही समार्जन करना चाहिए।४५।

इस प्रकार परवादी रूप हाथियों के लिए सिंह रूप श्री वर्धमान भट्टारक देव विरचित वरांग चरित्र में वरांग की उत्पत्ति का वर्णन करने वाला प्रथम सर्ग पूर्ण हुआ।

—00000—

द्वितीयः सर्गः

ततःकदाचित्स्वयमेव धीमान्कश्चिद्वणिग्स्वीक्ष्य वराङ्गरूपम्।
श्रीधर्मसेनस्य विभोः सभाया-मवोचदेवं नृपतिं सहर्षः॥१॥
ज्ञानेन धैर्येण गुणैरुदारैः, प्रचण्डदोर्दण्ड-बलेन भूत्या।
भवत्समानो धृतिषेणराजा [१]समृद्धिपुर्यां विदधाति राज्यम्॥२॥
तस्यातुलेति प्रतिभाति नाम्ना, प्रिया प्रियालापविभूषितास्या।
मनोज्ञरूपाऽनुपमा गुणाढ्या सुता तयोरस्ति विशालभाग्या॥३॥
सौभाग्यलावण्यवचोऽमृतौघैः सन्मानदानैर्नव-यौवनेन।
सन्तर्पयन्ती तव सा जनौघं, तुलां समारोहति नन्दनेन॥४॥
समानयोश्चेन्न विवाहयोगस्तयोर्नृपः स्यात्कृतकृत्योश्च।
सादृश्यनिर्माणविधौ प्रयुक्तो व्यर्थो भवेद्विश्वसृजः प्रयासः॥५॥
राजा वचस्तस्य निशम्य सम्यक्सन्मान-दानैर्वणिजं [२]प्रपूज्य।
विसृज्य तं स्वैः सचिवैश्चतुर्भिः, स्वमन्त्रशाला-मविशत्ततोऽसौ॥६॥
तत्रोपविश्य प्रवरासनेऽसौ, सत्कृत्य राजा निजमन्त्रिणस्तान्।
प्रोवाच वाचं मधुरां वराङ्गो, विवाह-योग्यो वयसा बभूव॥७॥

१. समृद्ध। २. प्रयुज्य।

उसके बाद एक समय किसी बुद्धिमान व्यापारी ने स्वयं ही वराङ्ग के रूप को देखकर धर्मसेन राजा की सभा में राजा को इस प्रकार हर्ष पूर्वक कहा।१। ज्ञान से, धैर्य से उदार गुणों के द्वारा प्रचण्ड भुजा रूपी दण्ड के बल से सम्पत्ति से आपके समान धृतिषेण नामक राजा समृद्धि पुरी में राज्य को करता है।२। इस राजा की अतुला नाम की, प्रिय व मधुर वचनों से विभूषित मुख वाली रानी सुशोभित है उन दोनों के सुन्दर रूप वाली गुणोंसे सहित अनुपमा नाम की विशाल भाग्यवाली पुत्री है।३। सौभाग्य लावण्य-सौन्दर्य वचन रूपी अमृत के समहू से सम्मान-दान व नवयौवन के द्वारा वह कन्या जनसमूह को सन्तुष्ट करती हुई आपके पुत्र वराङ्ग की समानता को प्राप्त हो रही है।४। हे राजन्! उन दोनों समान गुण रूप वालों के विवाह का योग हो तो दोनों की कृतकृत्यता होगी। यदि विवाह योग न हो तो समानता की निर्माण विधि में संलग्न ब्रह्मा जी का प्रयत्न विफल होगा।५। इसके बाद उस राजा ने उस व्यापारी के वचनों को अच्छी तरह सुनकर आदर सत्कार के द्वारा व्यापारी को सम्मानित प्रयुक्त कर उसको विदा किया और अपने चार मंत्रियों के साथ अपनी मंत्रशाला में प्रवेश किया।६। उस राजा ने वहाँ मंत्रशाला में आसन पर बैठकर उन अपने मंत्रियों का सत्कार कर मधुर वचनों को उनके सामने कहा हे मंत्रियों वरांग उम्र से विवाह योग्य हो गया है।७। ज्ञान के द्वारा, नीति के द्वारा, विनय के द्वारा, तेज के द्वारा, कान्ति के द्वारा चन्द्रमा की तरह निर्मल कीर्ति से समानता वाली इस वरांग के

ज्ञानेन नीत्या विनयेन धाम्ना, कीर्त्या शशाङ्कोज्ज्वलया समाना।
वराङ्गपाणिग्रहणोचितासौ का कथ्यतां कस्य सुता समेति ॥८॥
अनन्तनामा वदति स्म मन्त्री, श्रीदेवसेनो ललिताह्व-पुर्यां।
स मातुलो नाम वराङ्गनाम्नस्तत्रास्ति तद्राजसुता सुनन्दा॥९॥
नान्या कुमारीह वराङ्गयोग्या विहाय तां राजसुतां नरेन्द्र!।
नान्योऽस्ति बन्धुर्भवतोऽपि लोके तं देवसेनं नृपतिं विमोच्य॥१०॥
ततस्त्वनन्तस्य निशम्य वाक्यं, ब्रूतेऽजितो युक्तमिदं त्वदुक्तम्।
निगद्यमानं च मयापि किञ्चित्सुश्रूयतां चारुविचारपूर्वं॥११॥
स्वभावबन्धौ नृपदेवसेने मैत्रीविधानं किमपूर्वमेतत्।
अभूतपूर्वा ह्यपरेऽवनीशे मैत्री कृतापूर्वफलप्रदा स्यात्॥१२॥
स्वभावबन्धुः स च मातुलत्वादकृत्रिमप्रेमकरोऽस्य सूनोः।
आस्ता-मयं ताव-दपूर्वबन्धौ मैत्री विधेया बलवत्युदारे॥१३॥
श्रुत्वाजितस्यास्य वचस्तृतीयः, स चित्रसेनोऽप्यवदत्तदेवम्।
को देवसेनोद्बलवान् क्षितीशो विराजतेन्यो बल-कोशदेशैः॥१४॥
प्रताप-सन्तापित-शत्रुलोकं, दानेन सन्तर्पित-सर्वलोकम्।
तं देवसेनं क्षितिपं च मुक्त्वा नान्यत्र मैत्री फलदा भवित्री॥१५॥

विवाह के योग्य किसकी कौन पुत्री है यह मेरे लिए कहें।८। इसके बाद अनंत नामक मंत्री ने कहा ललित नामक नगरी में देवसेन राजा है वह राजा वराङ्ग का मामा है वहाँ पर उनकी राजपुत्री सुनन्दा है।९। हे राजन्! इस लोक में उस राजपुत्री को छोड़ कर वराङ्ग के योग्य दूसरी अन्य राजकुमारी नहीं है और लोक में उस देवसेन राजा को छोड़कर आपका भी कोई दूसरा बन्धु नहीं है।१०। उसके बाद अनन्त मंत्रीके वाक्य को सुनकर अजित मंत्री कहता है कि आपका कहा हुआ ठीक है , पर मेरे द्वारा भी सुन्दर विचार पूर्वक कहा जा रहा है उसको ध्यान पूर्वक सुनिए।११। स्वभाव से बन्धु राजा देवसेन में मैत्री का यह विधान क्या अपूर्व है क्योंकि दूसरे राजाओं में मैत्री की गई अभूतपूर्व है और अपूर्व फल को देने वाली होगी।१२। वह देवसेन राजा मामा होने से स्वभाव से बंधु है, इस वरांग पुत्र पर अकृत्रिम प्रेम करने वाला है यह अपूर्व बन्धु देवसेन के प्रति मैत्री दूर रहे बलवान और उदार के प्रति मैत्री करनी चाहिए।१३। इस अजित मंत्री के वचन को सुनकर वह तीसरा चित्रसेन मंत्री भी इस प्रकार बोला कि देवसेन से बलवान कौन अन्य राजा बल, सेना कोष, देशों के द्वारा सुशोभित है।१४। प्रताप से संतापित किया है शत्रुओंको जिसने और दान के द्वारा सन्तुष्ट किया है सभी लोक/विश्व को जिसने उस देवसेन राजा को छोड़कर अन्य जगह की हुई मैत्री फलदायी नहीं होगी।१५। चित्रसेन के इन वचनों को सुनकर हित व अहित को जानने वाला, अपने स्वामी के सत्कार्य के

चित्रोक्त-मेतद्वचनं निशम्य, प्रोवाच वाचं सचिवश्चतुर्थः।
[1]नीत्या च युक्त्या च हिताहितज्ञः स्वस्वामि-सत्कृत्य-फलाभिलाषः ॥१६॥
बहुप्रकारैः किमहो बहूक्तैर्वचोभि-रेभिर्वचनं मदीयं।
शृण्वन्तु सत्यार्थ-युतं भवन्तो, दत्तावधाना यदि नाथ-भक्ताः ॥१७॥
सत्कीर्तिलाभाय कुलाभिवृद्धयै द्विषां विघाताय जयाय धात्र्याः।
क्षेमाय राष्ट्रस्य विवाहमैत्री नृपेष्वनेकेषु नृपैर्विधेया ॥१८॥
लोकोऽनुकूलो धरणी सुसाध्या, मैत्र्या च [2]वश्या रिपवो भवन्ति।
सद्बान्धवाः स्नेहपरा नराणां, लक्ष्मीः स्थिरा बन्धुजनेषु सत्सु ॥१९॥
अतोऽत्र शस्त्रास्त्र-महाप्रवीणा, रणाङ्गणाराति-[3]जयाप्त-तोषाः।
सन्त्यष्ट-भूपास्तनयाश्च तेषां, वराङ्गपाणिग्रहणोचितास्ताः ॥२०॥
वपुष्मती [4]विन्ध्यपुरेश्वरस्य, महेन्द्रदत्तस्य [5]यशोमती च।
द्विषन्तपस्यापि च सिंहपुर्यां, तथेष्ट-पुर्यां विदिता तृतीया ॥२१॥
सनत्कुमारस्य वसुन्धराह्वा, कन्या प्रसिद्धा मलयेश्वरस्य।
अनन्तसेना मकरध्वजस्य, प्रिय(या)व्रता चक्रपुराधिपस्य ॥२२॥
समुद्रदत्तस्य तथा सुकेशी, गिरिव्रजेशस्य धराधिपस्य।
[6]वज्रायुधस्यापि च विश्वसेना, श्री कौशलेशस्य सुता प्रतीता ॥२३॥
[7]सुमित्रसिंहात् प्रियकारिणी चाङ्गेशस्य पुत्री [8]विनयन्धरस्य।

१. नीत्या च युक्तां च। २. वश्या अवश्या। ३. जय-प्रतोषाः। ४. वन्ध्य। ५. वती। ६. वाह्या। ७. मित्रसिंहस्य। ८. विनयंवरस्य।

फल की इच्छा युक्त चौथा मंत्री इस प्रकार के नीति से नियुक्त वाणी को बोला।१६। अहो बहुत प्रकार के बहुतों के द्वारा कहे गये युक्त पूर्ण वचनों से क्या ? यदि आप लोग राजा के भक्त हैं तो मेरे सत्य अर्थ से युक्त इन वचनोंको ध्यान पूर्वक सुनें।१७। सत्यकीर्ति के लाभ के लिए, कुल की अभिवृद्धि के लिए, शत्रुओं के विनाश के लिए तथा पृथ्वी को जीतने के लिए राजाओं के द्वारा अनेक राजाओं में विवाह के माध्यम से मित्रता करना चाहिए।१८। मैत्री से शत्रु वश मेंहोते हैं और सद् बन्धुजन स्नेह में तत्पर होते हैं। बन्धुजनों के होने पर लोग; मनुष्यों के अनुकूल (समर्थक) होते हैं पृथ्वी सुसाध्य/जीती हुई होती है और लक्ष्मी स्थिर होती है।१९। इसलिए यहाँ शस्त्र अस्त्र में अतिशय निपुण युद्ध क्षेत्र में शत्रुओं के जीतने में आल्हादित होने वाले आठ राजा है। उनकी वे पुत्रियाँ वराङ्ग (राजपुत्र) के पाणिग्रहण विवाह के योग्य हैं।२०। विंध्यपुर के राजा महेन्द्रदत्त की वपुष्मति कन्या, सिंहपुरी में द्विषंतप राजा की यशोमति कन्या तथा इष्टपुरी में सनतकुमार राजा की वसुन्धरा नामक प्रसिद्ध कन्या, मलयदेश के अधिपति मकरध्वज की अनन्तसेना, चक्रपुर के राजा समुद्रदत्त राजा की प्रियव्रता कन्या तथा गिरिव्रज (राजगृही) के राजा वज्रायुध की सुकेशीकन्या, कौशलपुर के

सन्तीह चैताः कुलगोत्रशुद्धाः सन्तप्त-चामीकर-कान्तिदेहाः ।।२४।।कलापकं।।
सर्वा वराङ्गं पतिमाप्य कन्यास्त्रिवर्ग-संसाधन-माप्नुवन्तु।
मद्वाक्य-मेतद्यदि युक्तियुक्तं, तद्ग्राह्य-मुर्वीश! कुशाग्रबुद्धे! ।।२५।।
आकर्ण्य राजा स च मन्त्रिवाचं, विनिश्चितार्थं हृदये निधाय।
वैदेहिकोक्तं च निवेद्य तेभ्यः ससर्ज दूतान्प्रतिभूप-माशु ।।२६।।
जातप्रहर्षा नृपतिप्रदत्तान्प्रतस्थिरे ते समवाप्य लेखान्।
आसेदुरल्पैर्दिवसैश्च तां तां, श्रीराजधानी-मवनीशदूताः ।।२७।।
प्रविश्य भूपाल-सभास्तु दूताः, प्रणम्य पादौ वसुधाधिपानाम्।
विवाह-सन्धानकथा-प्रयुक्तांस्तेभ्यो ददुर्मङ्गलवाचिलेखान् ।।२८।।
लेखार्थ-मेते धृतिषेण-मुख्या ज्ञात्वा तथेति प्रतिपद्य भूपाः।
विचार्य सम्यक् सचिवैः स्वकीयैर्दत्वा स्वलेखान्ससृजुश्च दूतान् ।।२९।।
आनन्द-पीयूष-रसप्रपान, [१]पुष्टाङ्गभावैः परिसूचयन्तः।
कार्यस्य सिद्धिं नृप-वाञ्छितस्य, व्याघुट्य चाजग्मु-रिलेश-दूताः ।।३०।।
हर्ष-प्रपूर्णानन-दूतवाचो, ज्ञात्वा च लेखेभ्य इलाधिपानां।
स्वाभीष्टसिद्धिं नृपधर्मसेनो दिनं विनिश्चित्य विवाह-योग्यम् ।।३१।।

१. स्पष्टाङ्ग— ।

राजा सुमित्रसिंह की विश्वसेना तथा अंगदेश के राजा विनयंधर की प्रियकारिणी कन्या है। ये सभी पुत्रियाँ कुल गोत्र से शुद्ध और तपाये हुए स्वर्ण की कांति से युक्त शरीर वाली हैं।२१-२४। ये सभी कन्याएँ वराङ्ग पति को प्राप्त कर त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) के संसाधन/सिद्धि को प्राप्त करें , हे कुशाग्र बुद्धि वाले राजन् यदि मेरे वचन युक्ति युक्त हैं तो ग्रहण करने योग्य हैं।२५। फिर उस राजा ने मंत्रियों के वचनों को सुनकर निश्चित प्रयोजन को हृदय में धारण कर और व्यापारी के वचनों को उन मंत्रियों से निवेदन कर शीघ्र ही प्रत्येक राजाओं के लिए दूतों को भेजा।२६। हर्ष से युक्त राजा के द्वारा दिए गए लेखों को प्राप्त कर उन्होंने प्रस्थान किया और थोड़े ही दिनों में वे राजा के दूत उन-उन राजधानियों को प्राप्त हुए।२७। उन राजदूतों ने राजा की सभा में प्रवेश कर राजाओं के चरणों में प्रणाम कर विवाह के श्रृंखला की कथा में प्रयुक्त उन राजाओं के लिए मंगल वाचक लेखों को प्रदान किया।२८। धृतिषेण है मुख्य जिनमें ऐसे इन राजाओं ने लेख के अभिप्राय को जानकार और उसी प्रकार स्वीकार कर अपने मंत्रियों के साथ अच्छी तरह विचार कर अपने लेखों को दूतों को देकर रवाना किया।२९। आनन्द रूपी अमृत रस के पान से पुष्ट, शरीर व भावों से राजा के इच्छित कार्य की सिद्धि को सब ओर सूचित करते हुए राजा के दूत वापिस आकर उपस्थित हुए ।३०। हर्ष से पूर्ण मुख वाले दूतोंके वचनों को और राजाओं के लेखों से अपनी अभीष्ट सिद्धि को जानकर राजा धर्मसेन ने विवाह के योग्य दिन को निश्चित कर महागुणशाली कन्याओं सहित राजाओं के बुलवाने के

स-कन्यकानां च महीपतीना-माकारणार्थं निजमन्त्रिणश्च।
ससैन्य-सामन्त-सुबन्धु-युक्तान्प्रस्थापयामास महागुणाढ्यान्।।युग्मं।।३२।।
चमूसमेताः सचिवाश्च सर्वे, तां तां पुरीं प्राप्य नृपालयं च।
प्रविश्य राज्ञां प्रणिपत्य पादा,-नूचुश्च वाचो मधुरार्थ-गर्भाः।।३३।।
ऐश्वर्य-धैर्यादि-गुणोपपन्नाः, सन्तीह भूपा बहवस्तथापि।
श्रीधर्मसेनस्य नृपस्य चित्ते, जागर्ति मैत्री भवतां नितान्तम्।।३४।।
मत्वैव-मुर्वीश्वरधर्मसेनः, सुतस्य पाणिग्रहणक्रियार्थं।
सकन्यकानाह्वयतीह युष्मान्प्रसिद्धवंशोज्ज्वल-कीर्ति-कान्तान्।।३५।।
इतीरयित्वा विरतेषु वाचं तेषु प्रहृष्टा जगदुर्महीनाः।
राजा यथा वाञ्छति यत्तथा ते कुर्मो वयं प्रेम-निबद्ध-चित्ताः।।३६।।
उक्त्वेति सर्वे-धृतिषेण-मुख्याः, स्वां स्वां सुतां ते शिविकाधिरुढां।
नृपाः पुरस्कृत्य महाविभूत्या, स्वबन्धुयुक्ताः सचिवैश्चचेलुः।।३७।।
संस्तूयमानाः पथि बन्दिवृन्दैः, खं पूरयन्तोऽखिलवाद्यनादैः।
सम्प्रेर्यमाणास्तु वराङ्गपुण्यैस्ते पार्थिवाः कान्तपुरं प्रविष्टाः।।३८।।
पताकिका - काञ्चन - तोरणोघैर्विभूषितेषूत्तम - मन्दिरेषु।
नृपप्रदत्तेषु महीभुजास्ते, सुखेन तस्थुर्विविधर्द्धिमत्सु।।३९।।
परस्पर-प्रेम-कथा-विशेषैः, सन्मान-दानैर्विविधोपचारैः।

लिए अपने मंत्रियों को सेना तथा सामंत सहित बंधुओं से युक्त प्रस्थान कराया। (युगमं)।३१-३२। और सेना सहित सभी मंत्री उस- उस नगरी को प्राप्त कर राजा के घर में प्रवेश कर, राजाओं के चरणों को प्रणाम कर मधुर अभिप्राय से युक्त वचनों को बोलें।३३। इस लोक में ऐश्वर्य धैर्य आदि गुणों को प्राप्त बहुत राजा है तो भी श्री धर्मसेन राजा के चित्त में आपके विषय में गाढ़ मित्रता जागृत हुई है।३४। अपनी बुद्धि से ही राजा-धर्मसेन ने पुत्र के विवाह की क्रिया के लिए कन्याओं सहित प्रसिद्ध वंश और उज्जवल कीर्ति से सुन्दर कन्याओं सहित आप लोगों को यहाँ अपने नगर में बुलाया है।३५। इस प्रकार कहकर उन मंत्रियों के चुप हो जाने पर प्रसन्न राजागण बोले कि राजा जो जैसा चाहते हैं उस तरह हम सब प्रेम से बंधे हुए चित्त वाले वह सब करेंगे।३६। ऐसा इस प्रकार कह कर धृतिषेण है मुख्य जिनमें ऐसे वे सभी राजा शिविका में विराजमान अपनी-अपनी पुत्रियों को आगे कर महान् विभूति से मंत्रियों व अपने बन्धुओं से सहित चले।३७। मार्ग में बंदी समूह के द्वारा स्तुति किए जाते हुए सम्पूर्ण वाद्योंकी आवाज के द्वारा आकाश को पूरित करते हुए और वरांग कुमार के पुण्यों से सम्प्रेरित होते हुए वे राजा कान्तपुर में प्रविष्ठ हुए।३८। राजा के द्वारा प्रदान किए गए ध्वजाओं और तोरणों के समूह से विभूषित अनेक प्रकार की संपत्ति से युक्त उन श्रेष्ठ राजभवनों में राजागण सुखपूर्वक ठहरे।३९। ये राजा परस्पर प्रेम कथा विशेषों के द्वारा, सम्मानों के देने से और विविध

श्रीधर्मसेनेन तु पूज्यमाना, अमन्दमानन्द-मवापु-रेते ।।४०।।
श्रीमण्डपं तोरण-दर्पणौघ-ध्वजावितानैर्विविध-प्रकारैः।
निर्माप्य राजाङ्गण-मध्येदेशे शोभां नगर्यां महतीं च राजा ।।४१।।
पञ्चाङ्ग-शुद्धौ च शुभे विलग्ने जामित्र-शुध्यादिगुणोपपन्ने।
सुतस्य पाणिग्रहणक्रियाञ्च रेभे जनानन्दकरीमिहाशु ।।४२।।युग्मं।।
संस्नाप्य चामीकर-पूर्णकुम्भ,-गन्धोदकै राजसुतं नरेन्द्राः।
सुताश्च ता हेममणिप्रवाल-मुक्ताफलाद्याभरणैश्च वस्त्रैः ।।४३।।
विभूष्य सन्मण्डप-मध्यदेशं, रत्नद्युतिद्योतित-दिग्विभागम्।
सङ्गीत-वाद्यध्वनि-नृत्यरम्यं, निन्युर्नरस्त्री-निवहप्रपूर्णं ।।४४।।
ततस्तदा बन्धुजनैर्विरेजुर्वराङ्ग-पाणौ विनियोजितास्ताः।
राज्ञां नवानां नवकन्यकाश्च वणिक्सुतैका धन-दत्तिकाह्वा ।।४५।।
कन्याः परं राज-करावलग्ना, बभुः कुमुद्वत्य इवाखिलास्ताः।
सादृश्यमुच्चैर्वरकन्यकाना-मालोक्य जग्मुः स्वजनाः प्रमोदम् ।।४६।।
दूर्वाम्बुगन्धाक्षत - दीप - मुख्यैर्द्रव्यैर्विधायार्घ्य - मनर्घ - पात्रे।
उत्तारयामास गुणादिदेवी, सूनोर्महाराज-वधूसमेता ।।४७।।

प्रकार की सेवा सुश्रुषा के द्वारा श्री धर्मसेन राजा के द्वारा पूज्य/सम्मानित होते हुए बहुत अधिक आनन्द को प्राप्त हुए।४०। और राजा ने तोरणों और दर्पणों के समूह के द्वारा विविध प्रकार की ध्वजाओंके विस्तार से राजा के आंगन के मध्य भाग मेंश्री शोभा मंडप का निर्माण कर नगरी में बहुत शोभा को करके।४१। और यहाँ शीघ्र ही (धर्म सेन राजा ने) तिथि, नक्षत्र, वार, करण इन पांचांग शुद्धि में और जामित्र शुद्धि आदि गुणों को प्राप्त विशिष्ट योग शुभ लग्न में मनुष्यों को आनन्द करने वाली पुत्र के विवाह की क्रिया को प्रारम्भ किया।४२। राजाओं ने स्वर्ण के पूर्ण जल से भरे हुए कलशों के सुगन्ध जल द्वारा राजपुत्र को स्नान कराके और उन राजपुत्रियों को स्वर्ण, रत्न, मूँगा मोती आदि आभूषणों और वस्त्रों के द्वारा विभूषित कर और रत्न की कांति से प्रकाशित दिशा के विभाग वाले संगीत वाद्योंकी ध्वनि और नृत्य की रमणीयता वाले तथा सुन्दर पुरुष और स्त्रियों के समूह से परिपूर्ण, सुन्दर मण्डप के मध्य भाग में उनको लाया गया।४३-४४। उसके बाद उस समय बंधुजनों के द्वारा राजाओं की नवीन नौ राजकन्याएँ और धनदत्त नामक, व्यापारी की धनदत्तिका नामक एक कन्या वे सभी वरांग कुमार के हाथों में मिलाई गईं।४५। वे सभी कन्याएँ राजकुमार रूपी चन्द्रमा से स्पर्शित कुमुदनी के समान सुशोभित हुई। वर और कन्याओंके उच्च सादृश्य/समानता को देखकर परिवार जन हर्ष को प्राप्त हुए।४६। दूर्वा, जल, गंध, अक्षत, दीप आदि मुख्य द्रव्यों के द्वारा रत्नमय पात्र में अर्घ को स्थापित करके महाराज व अन्य रानियों के साथ गुणदेवी ने पुत्र की आरती उतारी।४७। विवाहित पुत्र को

सम्प्राप्त-भार्यं प्रविलोक्य पुत्रं, हर्षादिदं वाक्य-मुवाच माता।
त्वं जीव दीर्घं वसुधां च बन्धून्, दीना-ननाथान्परिपालयस्व ।।४८।।
वराङ्ग-पाणिग्रहणात्सुता नस्त्रिवर्गसंसाधनतोऽथ धन्याः।
बभूवु-रेवं प्रविचार्य चित्ते, नृपाः स्वदेशं प्रति तेऽथ चेलुः ।।४९।।
तान्गन्तुकामान्नृपतीन्स्वदेशं, प्रपूज्य भोज्याम्बर-भूषणाद्यैः।
प्रयाप्य दूरं नृपतिः सपुत्रः, समाययौ स्वं भवनं सबन्धुः ।।५०।।
सर्वे स्वजामातृ-गुणाननेकान् हृदि स्मरन्तो धृतिषेणमुख्याः।
नृपाः पताकावलिभूषितां तां, स्वां स्वां विशालां विविशुः पुरीं च ।।५१।।
पितुश्च मातुश्च निपत्य पादौ, स्ववासयोग्यं जनकोपदिष्टम्।
विवेश वेश्म प्रवराङ्गनाभिर्वराङ्गनामा रतिकान्त-रूपः ।।५२।।
आलिङ्गनैश्चानन-चुम्बनैश्च, विनोद-हासैर्मधुरै-र्वचोभिः।
त्रपा-कपाटं नव-कामिनीनां, भित्त्वा मनोवेश्म विवेश सोऽत्र ।।५३।।
कला-प्रभा-कान्त-गुणप्रपूर्ण-कायेन तासां विषयानुरागः।
प्रवर्द्धितस्तेन वराङ्गनाम्ना राका-शशाङ्केन यथा पयोधिः ।।५४।।
तासां समालिङ्गन-चुम्बनैश्च, कटाक्ष-निक्षेप-निरीक्षणैश्च।
कोपप्रसादैः प्रणयप्रहासैस्ताम्बूल-वस्त्राभरण-प्रदानैः ।।५५।।

देखकर माता ने यह वाक्य बोला कि तुम चिरकाल तक जियो बंधुओं, दीनों और अनाथों का पारिपालन करो।४८। इसके बाद वरांग के साथ विवाह से हमारी पुत्रियाँ धर्म-अर्थ और काम इन त्रिवर्ग के साधन से धन्य होगीं। राजाओं ने चित्त में इस प्रकार विचार कर अपने देश के लिए प्रस्थान करना चाहा।४९। तब उन राजाओं को अपने देश को जाने के इच्छुक जानकर राजा ने भोजन वस्त्र और आभूषण आदि के द्वारा उनका प्रपूजन/अधिक सम्मान कर पुत्र के साथ राजा दूर तक भेजकर बंधुओं सहित अपने भवन में आ गए।५०। और धृतिषेण है मुख्य जिनमें ऐसे उन सभी राजाओं ने अपने दामाद के अनेक गुणों को हृदय में स्मरण करते हुए ध्वजाओं की पंक्तियों से विभूषित उन अपनी-अपनी विशाल नगरियों में प्रवेश किया।५१। कामदेव के समान रूप वाले वराङ्ग नामक राजकुमार ने माता-पिता के पैरों को प्रणाम कर पिता के द्वारा उपदिष्ट अपने निवास के योग्य श्रेष्ठ स्त्रियों के साथ घर में प्रवेश किया।५२। यहाँ राजकुमार ने नवीन वधुओं/पत्नियों के आलिंगन और मुँह के चुम्बनों द्वारा विनोद हास्यों के द्वारा मधुर वचनों से लज्जा रूपी किबाड़ों को भेदकर मनरूपी घर में प्रवेश किया।५३। जैसे राका (पूर्णिमा के दिन व रात) चंद्रमा के द्वारा समुद्र वृद्धि को प्राप्त होता है वैसे ही कला, प्रभा व कांत/सौंदर्य गुणों से परिपूर्ण काय वाले उस वरांग नाम के नवयुवक द्वारा उन नवयुवतियों का विषयों में अनुराग बढ़ा था।५४। उस वरांग ने उन नवयुवतिजनों के आलिंगन, चुंबन द्वारा कटाक्षों के क्षेपण अवलोकन से, कृत्रिम कोप व प्रसन्नता द्वारा स्नेह व हास्य से पान, वस्त्र और आभूषणों के

अन्योन्य-सङ्घट्टन-ताडनैश्च, कचाग्र-सङ्कर्षण-बन्धनैश्च।
करेण पीनस्तन-मर्दनैश्च निरन्तरं भोगसुखं स लेभे ॥५६॥युग्मं॥
कर्पूर-कङ्कोल-लवङ्ग-पूग-ताम्बूल-वल्लीदल-मुख्यमिष्टम्।
स्वाद्यं समासाद्य बहुप्रकारं भुंक्ते [1]स्म भोगान्निज-कामिनीभिः ॥५७॥
प्रियप्रियालाप-रसानुविद्धः, तद्वाक्सुधा-पान-वियोग-[2]भीरुः।
गन्तुं प्रवृत्तस्य गृहं पराया, जग्राह काचित्स्वरु-[3]मध्य-धन्वा ॥५८॥
कान्ता-काटक्षेषु-निपीडितस्य भैषज्य-मासा-मधरोष्ठ-दानम्।
अनङ्ग-वैद्योक्त-ममेय-मासीत्, पीनस्तनस्पर्शन-युक्त-मस्य ॥५९॥
विचित्र-सम्भोग-रसप्रवीणां गृहाण मुञ्चेति वचो ब्रुवाणां।
आक्रम्य कान्तां नव-यौवनाङ्गीं सुखं प्रपेदे सुरतप्रयोगात् ॥६०॥
भोगानुदानान् सुलभान् यथेष्ठान्, रम्याननेकान्निजकामिनीभिः।
सम्प्राप्तवान्यान्नृपनन्दनस्तान्, किं मादृशा वर्णयितुं समर्थाः ॥६१॥
उत्पद्यन्ते भुवनविदिते सत्कुले यन्नृसिंहाः, पुण्यस्येदं फलमविकलं प्राग्भवोपार्जितस्य।
क्रीडन्ते च प्रवर-वनिता-लोचनैः पीयमानाः, न्यायोपात्तप्रगटविभवाः साधयन्ति त्रिवर्गं ॥६२॥

१. स। २. भारं। ३. कर-मस्य धन्या।

देने से परस्पर संघर्षण व परिताडन द्वारा वालों के अग्रभाग के खींचने व बाँधने द्वारा तथा हाथों के द्वारा स्थूल स्तनों के मर्दन से निरंतर भोगसुख को प्राप्त किया।५५-५६। वह वराङ्ग अपनी पत्नियों के साथ कपूर, कंकोल, लौंग, सुपाड़ी, पान, नागवेली, प्रमुख इष्ट बहुत प्रकार के स्वाद लेने योग्य पदार्थोंा को प्राप्त कर भोगों को भोगता था।५७। प्रिय स्त्रियों के मधुर भाषण रूपी रस से व्याप्त/आकर्षित उनके वचन रूपी अमृत पान के वियोग से डरने वाला धन्य वरांग; दूसरे घर में जाने को उद्यत सुन्दर पतली कमर वाली किसी अपनी स्त्री को पकड़ लिया।५८। अपनी पत्नियों के कटाक्ष/हाव-भाव विलास रूपी बाणों से पीड़ित इस वरांग राजकुमार के काम रूपी वैद्य के द्वारा कही गई अप्रतिम औषधि इन कामनियों के स्थूल स्तनों के स्पर्श से युक्त अधरोष्ठों का दान पान था।५९। वह वरांग नाना प्रकार के संभोग रूपी रस में प्रवीण, ग्रहण करो, छोड़ो इस प्रकार वचनों को बोलने वाली नवीन यौवन अंग वाली स्त्रियों को आक्रमण कर सुरत के प्रयोग/काम कला के सेवन से सुख को प्राप्त करता था।६०। राजकुमार वरांग जिन उदार, सुलभ, यथेष्ट अनेक रमणीय भोगों को अपनी पत्नियों के साथ प्राप्त करता था उनको मुझ जैसे (वर्धमान) कवि वर्णन करने के लिए क्या समर्थ हो सकते हैं अर्थात् नहीं हो सकते हैं।६१। जो नर सिंह जगत् प्रसिद्ध पवित्र कुल मेंउत्पन्न होते हैं, जो श्रेष्ठ स्त्रियों के नेत्रोंके द्वारा पिये/देखे जाते हुए क्रीड़ा करते हैं और न्याय से प्राप्त प्रगट वैभव वाले, धर्म, अर्थ व काम इन तीनों पुरुषार्थों को सिद्ध करते हैं। यह पूर्व भव में उपार्जित सम्पूर्ण पुण्य का फल है।६२।

धैर्यैश्वर्य-प्रशम-विनयालङ्कृतं वीक्ष्य पुत्रं । पुण्यस्त्रीणां नयन-कमलै-रर्च्यमानं वराङ्गं ।
[1]सद्धिश्रीमज्जिन-पति-मते जात-धर्मानुरागं । तस्थौ प्रीति-प्रमुदित-मना धर्मसेनो नरेन्द्रः ॥६३॥

१. सिद्ध—।

इति श्रीपरवादि-दन्ति-पञ्चानन-श्रीवर्धमानदेवभट्टारक-विरचिते
वराङ्ग-विवाह-वर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥२॥

धैर्य, ऐश्वर्य, शांतता व विनय से अलंकृत और पुण्यवान स्त्रियों के नयन कमलों के द्वारा पूजे जाते हुए सिद्धि रूपी लक्ष्मी वाले जिन स्वामी के मत में उत्पन्न हुआ है धर्मानुराग जिसको ऐसे वरांग पुत्र को देखकर प्रीति/प्रेम से प्रसन्न मन वाले धर्मसेन राजा अपना काल व्यतीत करते हुए स्थिर हुए।६३।

इस प्रकार परवादी रूपी हाथियों के लिए सिंह स्वरूप श्रीमद् वर्धमान देव भट्टारक रचित
वरांग चरित में श्रीवरांग के विवाह का वर्णन करने वाला द्वितीय सर्ग पूर्ण हुआ।

—000000—

तृतीयः सर्गः

द्योतितेऽथ रविणा कनकाद्रेः, शृङ्गके जगति बन्दि-जनानाम्।
बोधितो जयवचोभिर(रि)हासीत्तल्प-मन्य-दिवसे स नरेशः ॥१॥
[1]संस्मरञ्जिनपतिं मनसासौ, दन्तधावन-विधिं च विधाय।
पुत्र-मित्र-सचिवैश्च समेतो, मण्डपं स समवाप सभायाः ॥२॥
तार - हार - [2]मुकुटाङ्गद - हेम,- सद्विभूषण - विभूषित - गात्रः।
तत्र काञ्चनमयं स्वसभायां, सिंहविष्टर-मभूषय-दीशः ॥३॥
तोषपूर्णहृदयः स च यावद्राज्य-राष्ट्र-विजयादि-कथां च।
तिष्ठतीह सचिवैः सह कुर्वन्नाजगाम [3]तमिनं वनपालः ॥४॥
सोप्यकाल-फलपाणि-रिलेशं, तं जगाद विनतो वनपालः।
नाथ तेऽद्य नगरस्य समीपं, प्राप्तवान्गणधरो वरदत्तः ॥५॥
यत्तपोतिशयतोऽखिलवृक्षाः, भान्त्यकालफलभारविनम्राः।
[4]तत्पुरोपवन-देश-निषण्णो, वर्तते गणधरो जिननेमेः ॥६॥
धर्मसेन-नृपतिर्वनपाला-दागतं गणधरं च विदित्वा।
स्वाङ्ग-लग्न-वसनादिक-मस्मै, तोषतोऽखिल-मदाद्बहुमूल्यम् ॥७॥
पाद-सप्तक-ममुं प्रति गत्वा, भक्तितः समभिवन्द्य नरेन्द्रः।
घोषणां च निखिले नगरेऽस्मिन्दातु-माशु विससर्ज स भृत्यान् ॥८॥

१. संस्मरन्। २. मुक्ता-हेम-विभूषण। ३. तमिमं। ४. त्वत्।

और यहाँ लोक में सूर्य के द्वारा सुमेरुपर्वत के शिखर के दिखने पर वह धर्मसेन राजा अन्य दिन शय्या पर था तब बंदीजनों के जय-जय शब्दों के द्वारा जगाया गया।१। वह धर्मसेन राजा मन में जिनेन्द्र देव का स्मरण करता हुआ दंतधावन की विधि को करके पुत्रों, मित्रों और मंत्रियों के साथ सभा के मण्डप को प्राप्त हुआ।२। चमकीले हार, मुकुट, बाजूबंद व स्वर्ण के सुन्दर आभूषणोंसे सुशोभित शरीर वाले उस राजा ने वहाँ अपनी स्वर्णमय सभा में सिंहासन को सुशोभित किया अर्थात् सिहांसन पर विराजमान हुआ।३। आनन्द से भरे हृदय वाला राजा जब तक राज्य राष्ट्र व शत्रुओं के विजय आदि की कथा को मंत्रियों के साथ करता हुआ यहाँ पर ठहरा तब तक उस राजा का वनपाल आ गया।४। अकाल में उत्पन्न हुए फल हैं जिसके हाथ में ऐसे उस नम्रीभूत वनपाल ने राजा को कहा हे नाथ! आज तुम्हारे नगर के समीप वरदत्त गणधर भगवान आए हुए हैं।५। उस नगर के उपवन के प्रदेश में नेमि जिनेन्द्र के गणधर बैठे हुए हैं जिनके तप के महात्म्य से अकाल में उत्पन्न फलों के भार से झुके हुए सभी वृक्ष सुशोभित हो रहे हैं।६। धर्मसेन राजा ने वनपाल से, गणधरदेव को आए हुए जानकर अपने शरीर में पहने हुए सभी बहुमूल्य वस्त्र आभूषणों आदि को हर्ष से इस वनपाल के लिए दिए।७। इसके बाद उस राजा ने सात पग चलकर

घोषणां च विनिशम्य तदानी-माज्ञया नरपतेर्विहितां तां।
वीक्षितुं विभुतमं लघु पौरा, निर्ययुः प्रमुदिताः परितोऽपि ।।९।।
नाकि-नाग-नरनायक-वन्द्यं वन्दितुं द्रुत-मगाद्गजयानः।
धर्मसेन-नृपतिर्यतिनाथं, मन्त्रि-मित्र-सहितः सकलत्रः ।।१०।।
धर्मसेन-नृपतेस्तनयास्ते, वाजि-वारण-रथादिक-यानाः।
चेलु-रुज्ज्वल-यशोभर-शोभाः सद्गुणाकर-वराङ्ग-धुरीणाः ।।११।।
दूरतः समवलोक्य यतीन्द्रं, दन्तिवाहन-मपास्य नरेन्द्रः।
त्रिःप्रदक्षिण-विधिं प्रविधाय, प्रेमतोऽस्य चरणौ स ननाम ।।१२।।
शेष-संयत-ततिं च विशुद्ध्या, सम्प्रणम्य कुशलं परिपृच्छय।
ज्ञान-दर्शन-चरित्र-गुणेषु, श्रीगणेन्द्रपुरतश्च निषद्य ।।१३।।
स्तोककाल-मवलम्ब्य कथाभिः, प्रश्नकाल-मवलोक्य स धीमान्।
कुड्मलीकृत-कराम्बुजयुग्मः प्रश्रया-दिद-मुवाच वचश्च ।युग्मं। ।।१४।।
अद्य हृद्य-सफले नयने मे, त्वत्पदाम्बुज-निरीक्षणतोऽपि।
एकमद्य शुभकर्म-फलं भो, नाथ! जात-ममलं मम चित्तम् ।।१५।।
अस्मि देव भुवने निरवद्यो भव्यलोक-निवहेषु धुरीणः।
चिन्तितं च सकलं मम सिद्धिं प्राप्तमेव हि तवागमनेन ।।१६।।

उन वरदत्त गणधर को भक्ति से नमस्कार कर इस सम्पूर्ण नगर में इसकी घोषणा को शीघ्र देने के लिए सेवकों को भेजा।८। उस समय राजा की आज्ञा से की गई उस घोषणा को सुनकर प्रसन्न मन वाले नगर निवासी सब ओर से शीघ्र ही उन वरदत्त गणधर स्वामी के दर्शन/देखने के लिए निकले।९। हाथी पर सवार धर्मसेन राजा देवेन्द्र, नागेन्द्र और नरेन्द्रों से वन्दनीय मुनिनाथ की वन्दना करने के लिए मंत्री, मित्र और स्त्रियों सहित गज पर सवार शीघ्र गए।१०। उज्जवल यश से भरे शोभा से युक्त सद्गुणों की खान वराङ्ग है मुख्य जिनमें ऐसे वे धर्मसेनहोते हुए राजा के पुत्र घोड़े हाथी व रथ आदि में सवार होकर चले।११। राजा ने दूर से ही मुनीन्द्र को देख हाथी की सवारी को छोड़कर तीन प्रदक्षिणाओं की विधि को करके प्रेमपूर्वक मुनिराज के चरणों को नमस्कार किया।१२। पुष्प की कलि के समान हाथ रूपी कमल युगल वाले उस बुद्धिमान राजा ने शेष मुनियों की पंक्ति को विशुद्धि पूर्वक नमस्कार करके तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुणों में कुशलता को पूछकर श्री वरदत्त गणधर के सामने बैठकर कथाओं के आश्रय से थोड़े समय का सहारा ले प्रश्नकाल को देखकर यह वचन कहा।१३,१४। हे नाथ आपके चरण कमलों के निरीक्षण से ही आज मेरे नेत्र सुन्दर और सफल हो गए। और आज मुझे प्रधान शुभ कर्म का फल प्राप्त हुआ मेरा चित्त निर्मल हो गया।१५। हे देव आपके आगमन से लोक में, मैं पाप रहित, भव्य जीवों के समूह में प्रधान हूँ और मेरे चिंतित सम्पूर्ण कार्य सफलता को प्राप्त हो गए हैं।१६। आप तीन लोक में

त्वं त्रिलोकवरकेवलबोधो भव्यलोक-कमलाकर-सूर्यः।
त्वं च कर्मरिपु-भूप-विदारी जन्मि-जन्मकृत-कल्मषहारी ॥१७॥
शास्त्रसागर-तरङ्ग-शशाङ्को, वादि-दन्ति-दलनैक-मृगेन्द्रः।
संशयाचल-महापवि-पाणिस्त्वं मुनीन्द्र! वद मे वरधर्मं ॥१८॥युग्मं॥
तन्निशम्य वचनं च बभाषे, भूपतेर्यतिपतिः स महात्मा।
सर्वभव्य-निवहस्य हितार्थं, सार्थकं च मधुरं च विचित्रम् ॥१९॥
दर्शनावगमने च चरित्रं, कीर्तयन्त्यखिल-धर्म-निदानम्।
श्री जिना निखिल-तत्त्वविदोऽमी, सर्व-जीव-हित-चिन्तन-चित्ताः ॥२०॥
यो जिनागम-तपोधन-भक्तः, सर्वदा दृढमतिं सुरुचिं च।
साधु-सन्धरति-दर्शनपूतं, तं वदन्ति मुनयो हि गुणज्ञाः ॥२१॥
शुद्धबोधहृदयः स नरः स्याद्यो यथास्थित-सुतत्त्व-पदार्थान्।
[१]भावयन् स्वमनसान्य-जनेभ्यो, नित्यमादिशति बोधविशुद्ध्यै ॥२२॥
यस्त्वनवद्य-रहिते पथि धन्यो, वर्ततेऽन्यमपि वर्तयतीह।
तं वदन्ति सुधियः सुचरित्रं, शुद्धधर्म-विहितामल-बुद्धिं ॥२३॥
क्षायिकोपशम-वेदक-भेदाद्-दृक् त्रिधेति मुनयः प्रवदन्ति।

१. भावयेत्

श्रेष्ठ केवलज्ञान वाले हैं भव्य जीव रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य स्वरूप हैं आप कर्मरूपी शत्रु के राजा मोहनीय कर्म को नष्ट करने वाले हैं और जन्मधारी जीवों के जन्म जन्म में किये गये पापोंको हरण करने वाले हैं।१७। आप शास्त्र रूपी सागर की तरंगों को बढ़ाने के लिए चन्द्रमा स्वरूप हैं और वादि रूपी हाथियों के दलन करने के लिए सिंह के समान हैं, संशय रूपी पर्वत को फोड़ने के लिए इन्द्र के समान है। हे मुनीन्द्र आप मेरे लिए श्रेष्ठ धर्म को कहिए।१८। राजा के उन वचनों को सुनकर वह महात्मा मुनिपति/गणधरदेव सभी भव्य समूह के हित के लिए मधुर, सार्थक, आश्चर्यकारी नाना प्रकार के वचनों को बोले।१९। सभी जीवों के हित का चिंतन करने रूप मन वाले, व सम्पूर्ण तत्त्वों को जानने वाले ऐसे श्री जिनेश्वर इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक चारित्र को सम्पूर्ण धर्म का कारण कहते हैं।२०। जो जिनेश्वर देवों का, जिनशास्त्रों का और जिन गुरुओं का भक्त है और हमेशा उनमें दृढ़ बुद्धि एवं सुरुचि रखता है, उनको गुणों के जानकार मुनिजन सम्यग्दर्शन से पवित्र कहते हैं।२१। वह शुद्ध ज्ञान हृदय वाला मनुष्य है जो यथास्थित यथार्थ तत्त्वों व पदार्थों का अपने मनोयोग पूर्वक चिन्तन करता हुआ अन्य लोगों के ज्ञान की विशुद्धि के लिए हमेशा उपदेश करता है।२२। जो इस लोक में पाप रहित मार्ग में चलता है और दूसरों को चलाता है तथा जो शुद्ध धर्म में लगी हुई निर्मल बुद्धि वाला है उसको विद्वान् सम्यक् चारित्रवान् कहते हैं।२३। क्षायिक, उपशम और वेदक के भेद से सम्यग्दर्शन तीन भेद वाला है

क्षायिकं प्रकृतिसप्तक-नाशात्तस्य चौपशमिकं प्रशमाच्च ।।२४।।
वेदकं प्रशमतः क्षयतः स्यात्तत्र सप्तकमितं प्रकृतीनां।
चञ्चलं च मलिनं तदगाढं त्रिःप्रकारमिति भाषितमाप्तैः ।।२५।।
प्रज्ञया-श्रुत-समाश्रयतः स्यात्पर्ययेण मनसावधिना च।
केवलेन विपुलेन [1]विशुद्ध्या, पञ्चधा जगति बोधविकल्पः ।।२६।।
श्री जिना अणुगुणव्रतशिक्षा-सुव्रतानि गृहिणां सुचरित्रम्।
कीर्तयन्त्यमल-केवलबोधा बाणवह्निजलधिप्रमितानि ।।२७।।
प्राणिरक्षण-मसत्य-निवृत्तिं चौर्यतो व्युपरमं यतिवर्याः।
लोभवर्जन-मसेवन-मन्यस्त्रीषु चाणुचरितं कथयन्ति ।।२८।।
भोगयुग्म - परिमाण - मनर्थदण्ड - वर्जन - मिहामल - धर्मे।
दिग्व्रतञ्च गुणसागरचन्द्राः, सद्गुणत्रितय-माहु-रभिज्ञाः ।।२९।।
प्रोषधानशन-सामयिकं च, देशसम्मितिरतोऽतिथिदानम्।
सुव्रतानि कथयन्ति सुशिक्षा-माश्रितानि जिनधर्म-विदग्धाः ।।३०।।
दर्शनं च चरणं शुचि सम्यग्ज्ञानमत्र नृप! वाञ्छितसिद्ध्यै।

१. विशुद्धिः।

ऐसा प्रत्यक्षज्ञानी मुनिजन कहते हैं। सात प्रकृतियों के नाश से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ, मिथ्यात्व सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति ये सात प्रकृतियाँ हैं। इन्हीं सात प्रकृतियों के उपशम व क्षय से वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व होता है। वह वेदक सम्यक्त्व; चल, मलिन और अवगाढ़ के भेद से तीन प्रकार का आप्त द्वारा कहा गया है।२४-२५। प्रज्ञा यानी मतिज्ञान से और श्रुत के आश्रय अर्थात् श्रुतज्ञान से, अवधिज्ञान से, मनःपर्ययज्ञान से और पूर्ण रूप से विशुद्ध केवलज्ञान की अपेक्षा से जगत् में सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं।२६। निर्मल केवलज्ञान वाले श्री जिनेन्द्र देव पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को गृहस्थों का सम्यक्चारित्र कहते हैं।२७। मुनियों में श्रेष्ठ जिनेन्द्र देव प्राणियों की रक्षा करने को, असत्य भाषण के छोड़ने को, चोरी से विरत होने को, अन्य स्त्रियों के सेवन के त्याग को व लोभ के छोड़ने को इस प्रकार एक देश रूप इन पाँच पापों के त्याग को अणुव्रत कहते हैं।२८। यहाँ निर्मल गृहस्थ धर्म में भोग व उपभोग के योग्य पदार्थों की मर्यादा करना, अनर्थदण्डों का त्याग करना, दशों दिशाओं की मर्यादा करने रूप दिग्व्रत, गुण रूपी समुद्र को बढ़ाने के लिए चन्द्रमा स्वरूप विद्वान् तीन गुणव्रतों को कहते हैं।२९। जिनधर्म में निपुण विद्वान् मुनियों के व्रतों की शिक्षा देने वाले प्रोषधोपवास, सामायिक, देशव्रत एवं अतिथि संविभाग इन चार शिक्षाव्रतों को कहते हैं।३०। हे राजन्! जो सम्पूर्ण तत्त्वों को जानने वाले वांछित मोक्ष की सिद्धि के लिए पवित्र सम्यग् दर्शन,

साधयन्त्यखिल-तत्वविदो ये, ते यथेप्सितसुखानि लभन्ते ॥३१॥
त्रीण्यमूनि मुनयोऽनघ-रत्नान्य[१]र्हतां भवविनाशकराणि।
नित्यसौख्यजनकानि नराणा-मामनन्ति परमागम-दक्षाः ॥३२॥
दर्शनेन विमलेन नरा नो, दुर्गतिं च नरकं च भजन्ते।
किं पुनश्चरणबोधयुतेन प्रोच्यते शिवसुखोदयेन ॥३३॥
ज्ञान-दर्शन-चरित्र-पवित्रा, ये नरा जिनमते दृढचित्ताः।
वाञ्छितानि विविधानि सुखानि, प्राप्य यांति परमं पदमुच्चैः ॥३४॥
आप्तभाषित-ममुं नृप धर्मं, त्वं कुरुष्व यदि वाञ्छसि सौख्यम्।
धर्मकर्म-रहितस्य च पुंसः, सम्भवन्ति न समीहितकामाः ॥३५॥
तन्निशम्य वचनं गणिनोऽसौ, धर्मसेन-नृपतिः सवराङ्गः।
कीर्तिपुण्यशिवदं गृहिधर्मं, हर्षपूर्ण-हृदयश्च बभार ॥३६॥
श्रावकव्रतधराः पुन-रन्ये भव्यलोक-निवहाश्च बभूवुः।
कर्म-मर्म-दलनं दधु-रेके जातरूप-ममलं [२]हत-कामाः ॥३७॥
केचिदापु-रमलं परिणामं मानसे जिनमतं च दधानाः।
श्री जिनागम-गुरुस्तुति-वक्त्रास्तोष-मापुरपरेऽपि च भद्राः ॥३८॥

१. –र्हता। २. जिन-पुङ्गव-वेषं।

सम्यग् ज्ञान व सम्यक् चारित्र को सिद्ध करते हैंवे इच्छानकूल सुखोंको प्राप्त करते हैं।३१। परमागम में निपुण मुनिजन, मनुष्यों के संसार का विनाश करने वाले अरहंतों के सम्यक्श्रद्धादि ये तीन निर्मल रत्न मानते हैं।३२। निर्मल सम्यग्दर्शन से मनुष्य दुर्गति को और नरक को प्राप्त नहीं करते फिर क्या जो सम्यक् चारित्र और सम्यग्ज्ञान से युक्त हैं वे शिव सुखको प्राप्त करने वाले कहे जायेंगे अर्थात् अवश्य ही कहे जायेंगे।३३। जो मनुष्य जिनमत में दृढ़ मन वाले हैं और सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र से पवित्र हैं वे वांछित अनेक प्रकार के सुखों को प्राप्त कर उत्कृष्ट पद मोक्ष को प्राप्त करते हैं।३४। हे राजन् यदि तुम सुख को चाहते हो तो जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए इस रत्नत्रय रूपी धर्म को करो। धर्म कर्म से रहित पुरुष के इच्छित कार्य सम्भव नहींहोते हैं।३५। वरांग राजकुमार से सहित हर्षित हृदय वाले इस धर्मसेन राजा ने वरदत्त गणधर के कीर्ति पुण्य और कल्याण को देने वाले उन वचनों को सुनकर गृहस्थ धर्म को धारण किया।३६। पुनः अन्य भव्यलोगों का समूह श्रावकके व्रतोंको धारण करने वाला हुआ था। काम को नष्ट करने वाले किन्हीं प्रधान पुरुषों ने कर्म के मर्म/मूल को दलन करने वाले बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित जिनवरदेव के अद्वितीय निर्मल दिगम्बर मुनि भेष को धारण किया।३७। और कोई मन में जिनमत को धारण करते हुए निर्मल परिणामों/सद्भावों को प्राप्त हुए तथा श्री जिनेन्द्र आगम और गुरु की स्तुति को मुख में धारण करने वाले दूसरे भद्र मनुष्य भी संतोष को प्राप्त हुए।३८। श्री जिनेन्द्र देव के

तं विनम्य विनयाद्यतिनाथं पुत्रमित्रसहितो नरनाथः।
देवदेव-चरणाम्बुज-भृङ्गः, स्वं पुरं प्रमुदितः प्रविवेश॥३९॥
पादपद्मयुगले च वराङ्गः, संस्मरन्यतिपतेर्निजपित्रा।
स्वीकृताचरणचिन्तनचेता, आससाद सदनं मदनाभः॥४०॥
सोपि संयतपतिर्जिनभूत्यै, भूतलं प्रविजहार निरीहः।
तत्प्रबोधविमलीकृतभावो, धर्मसेन-तनयो भवनेऽस्थात्॥४१॥

मन्दाक्रान्ता छन्दः

सम्यग्ज्ञानं सुचरणयुतं, प्राप्तसम्यक्त्व-मुच्चैः। पात्रे दानं जिनपतिविभोः, पूजनं भावनं च।
धर्मध्यानं तपसि च मतिं, साधुसङ्गं(ङ्गे) वितन्वन्। श्रेयोमार्ग-प्रकटनपरः श्रीवराङ्गो रराज॥४२॥
धर्मे भावं, गुरुषु विनयं, बन्धुषु स्नेहबन्धं। दीनानाथे, परमकरुणां, वैरिलोके प्रतापम्।
नित्यं चित्ते, सकलजनता-पालनं यो विधत्ते। धन्यः पुंसा-मभिमतफलं, सर्वकालं स भुङ्क्ते॥४३॥

इति श्रीपरवादि-दन्तिपञ्चानन-श्रीवर्धमानदेवभट्टारक-विरचिते वराङ्गचरिते वरदत्त-गणधर-धर्मोपदेशो नाम तृतीयः सर्गः।

चरण कमलों के भ्रमर-स्वरूप उस धर्मसेन राजा ने पुत्र मित्रों से सहित हर्षित होते हुए उन मुनिनाथ को विनय से नमस्कार कर अपने नगर में प्रवेश किया।३९। और वरांग राजकुमार मुनिराज के चरण कमल युगल का स्मरण करता हुआ अपने पिता से स्वीकृत किये हुए आचरण के चिंतन वाला तथा कामदेव के समान कांति वाला अपने घर को प्राप्त हुआ।४०। उन निष्पृह मुनियों के स्वामी वरदत्त गणधर ने जिनेन्द्र भगवान् की महिमा के लिए पृथ्वी तल पर विहार किया और उनके उपदेश से निर्मल किया है भावोंको जिसने ऐसा धर्मसेन राजा का पुत्र वरांग अपने भवन में रहता था।४१। सम्यक् चारित्र से सहित सम्यग् ज्ञान तथा उत्कृष्ट सम्यक्त्व को प्राप्त व सुपात्र में दान को, जिनेन्द्र प्रभु के पूजन और भावना को धर्म ध्यान को और तपस्या में व साधु संघ में बुद्धि को अथवा साधुओं की संगति को++, विस्तारित करता हुआ कल्याण के मार्ग को प्रकट करने में तत्पर श्री वरांग राजपुत्र सुशोभित हुए।४२। धर्म में भाव भक्ति को, गुरुओं के विनय को, बंधुओं में स्नेह संबंधों को, दीन अनाथों पर परम करुणा को, बैरी वर्ग में प्रताप को और हमेशा चित्त में सभी जनता के पालन को जो धारण करता है, वह धन्य पुरुष सभी कालों में इच्छित फल को भोगता है।४३।

इस प्रकार परवादी रूपी हाथियों को लिए सिंह स्वरूप श्री वर्धमान भट्टारक देव विरचित वरांग चरित्र में वरदत्त गणधर के धर्मोपदेश नाम का तृतीय सर्ग पूर्ण हुआ।

—00000—

चतुर्थः सर्गः

अथान्यदा नराधीशः, स्वसभायां जनोदितान् । [1]शुश्रुवे निजपुत्रस्य, गुणानानन्दवर्धकान् ॥१॥
श्रुत्वा निजकुमारस्य गुणान् राजा पुनः पुनः । प्रच्छेति जनान्सर्वान्सन्तोष-[2]हसिताननः ॥२॥
के के कथं कथं दृष्टाः, शशाङ्क-किरणोज्ज्वलाः । गुणाभवद्भिर्मत्पुत्रे, कथयन्तु जना मम ॥३॥
ब्रुवाणमिति तं भूप-मूचिरे मन्त्रिणस्तदा । अनन्तोऽजितचित्रौ च देवसेनश्चतुर्थकः ॥४॥
नृदेव! तव पुत्रेषु, वराङ्गोऽस्ति गुणाधिकः । निःकलङ्कः कलाधारः, कलेशोज्ज्वल-कीर्तिभाक् ॥५॥
[3]सोमतोऽपि महासौम्यः, प्रतापी तपना-दपि । सागरादपि गम्भीरो, धीरो मेरुगिरे-रपि ॥६॥
पयोदादप्युदारस्तु, क्षमावा-नवनेरपि । भोग-सौभाग्य-सम्पन्नः प्रजा-प्रियकरो हि सः ॥७॥
कला-कलाप-सम्पूर्ण-वपुषा वसुधातलं । विद्योतयति यो राजा कस्तेन समतां व्रजेत् ॥८॥
अभिराम-गुणारामैः, पूरयन्वसुधातलं । प्रयाति कवि-लोकेषु, पुण्यश्लोकपदं परम् ॥९॥
वदन्मृदूनि वाक्यानि, वर्धयन्कुल-मन्त्रिकं । कवितापहरः सोऽभूच्छुभ-लक्षण-लक्षितः ॥१०॥
धवलीकुर्वतानेन, समस्तं भुवनं गुणैः । नीतो दोषाकरत्वं ग्लौस्तद्वै युक्तं कलङ्किनि ॥११॥

१. शुश्राव....। २. सहिता....। ३. सोमादपि।

इसके बाद एक दिन राजा ने मनुष्यों के द्वारा प्रकट अपनी सभा में आनंद को बढ़ाने वाले अपने पुत्र के गुणोंको सुना।१। संतोष से हर्षित मुख वाले राजा ने बार-बार अपने राजकुमार के गुणोंको सुनकर सभी जनों से इस प्रकार पूछा।२। चन्द्रमा की किरणों के समान उज्जवल मेरे पुत्र में आप लोगों के द्वारा कौन-कौन और कैसे कैसे गुण देखे गये हैं, सभी जन मेरे लिए कहें।३। उस समय उस राजा को इस प्रकार बोलते हुए अनंत, अजित, चित्रसेन और चौथे देवसेन इन मंत्रियों ने कहा।४। हे राजन्! आपके पुत्रों में वरांग सबसे अधिक गुण वाला दोष रहित, कलाओं का आधार/स्वामी और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल कीर्ति वाला है।५। चन्द्रमा से भी महासौम्य/शीतल, सूर्य से अधिक प्रतापी, समुद्र से अधिक गम्भीर और सुमेरुगिरि से भी अधिक धीर/निश्चल है।६। मेघों से भी अधिक उदार है, पृथ्वी से भी अधिक क्षमावान है, भोग और सौभाग्य से सम्पन्न है और निश्चित ही वह प्रजा का प्रिय करने वाला है।७। जो कलाओं के समूह से पूर्ण चन्द्रमा के समान, शरीर से पृथ्वीतल को प्रकाशित करता है, कौन राजा उसकी बराबरी कर सकता है।८। इसने अपने सुन्दर गुण रूपी बगीचों के द्वारा पृथ्वी तल को व्याप्त करते हुए कवि लोगोंमें उत्कृष्ट पुण्य श्लोक पद को प्राप्त किया अर्थात् इसके पुण्य कार्यों की कीर्ति विद्वानों में लोकान्त तक फैली है।९। वह मीठे वाक्योंवचनों को बोलता हुआ मंत्री के कुल को बढ़ाता हुआ कवि के ताप दुःख, दरिद्रता को हरण करने वाला कवि भाव को हरने/आकर्षित करने वाला शुभ लक्षणों से युक्त था।१०। समस्त लोक को गुणोंके द्वारा सफेद करते हुए इस वरांग ने चन्द्रमा में क्षीणता युक्त व दोषाकर पने को प्राप्त कराया अर्थात् चंद्रमा में कलाक्षीणपना व दोषों का स्थितपना है किंतु राजकुमार वरांग में ये दोनों कमियाँ नहीं थीं।११। तुम्हारा वरांग कुमार सज्जनों और दुर्जनों को सम्मान दृष्टि से देखता है। यहाँ अलंकार पर्ण

शिष्टं दुष्टं कुमारस्ते समदृष्ट्या विलोकते । अलङ्कारार्पणेनैव सद्यो यन्नयति क्षयम् ।।१२।। (युग्मं)
शस्त्रशास्त्रकलाभिज्ञस्त्रिवर्गविहित-क्रमः । विक्रमी रिपुजेतासौ, प्रजापालनतत्परः ।।१३।।
प्रमादेनापि न ब्रूते, परक्लेशकरं वचः । विनीतो नीतिशास्त्रज्ञ, उपकारपरो हि सः।।१४।।
सौजन्यं विनयं धर्मरक्षणं शिष्टपालनं । सत्कीर्तिः पूज्यपूजां च, बिभर्ति तव नंदनः ।।१५।।
सौभाग्यं चापि सौन्दर्यं, लावण्यं भोगमद्भुतं । विचारश्चाथ वैदुष्यं, वराङ्गे निवसन्त्यमी ।।१६।।
वागीशोऽपि न शक्नोति विधातुं गुणकीर्तनम् । तस्य सर्वगुणान्वक्तुं तवाग्रे किं वयं क्षमाः ।।१७।।
तव पुत्रगुणान्नाथ, त्वमेव प्रविलोकय । द्रष्टुं करगतां रेखां, ध्रियते किं नु दर्पणः ।।१८।।
तेषां वचांसि भूपालः, श्रुत्वोवाच स मन्त्रिणः । वराङ्ग एव धन्योयं, वर्ण्यते यद्गुणा बुधैः ।।१९।।
निःसङ्गा मुनयो यस्य, कीर्तयन्ति गुणान्बुधाः । सज्जनः सत्कुलीनश्च, स एव पुरुषोत्तमः ।।२०।।
राज्य-राष्ट्राभिवृध्यर्थं तस्मै सौजन्यसिन्धवे । युवराजपदं दत्वा, भवामः सुखिनो वयं ।।२१।।
मत्पुत्रेषु च सर्वेषु, वराङ्गोऽत्यन्तसद्गुणी । ततोऽस्मै दातुमिच्छामि, युवराजपदं मुदा ।।२२।।
श्रुत्वा श्रीधर्मसेनस्य, वाक्य-मानन्दपूरिताः । जगदुर्मश्रिणः स्वामिन्साधु सम्भाषितं त्वया ।।२३।।

के दो अर्थ हैं । सज्जन पक्ष में मुद्रा (आनंद) आभूषण अर्पण करने से सज्जनों को शीघ्र उन्नति को प्राप्त कराता था, दुर्जन पक्ष में—अलं+कारा+अर्पण अर्थात् पर्याप्त कारागार में डाल कर शीघ्र क्षय को/ अपराधशुद्धि प्राप्त कराता था।१२। यह राजकुमार शस्त्र, शास्त्र कलाओं में निपुण है, धर्म, अर्थ व काम इन तीनों पुरुषार्थों को क्रम से करता है और पराक्रमी शत्रुओंको जीतने वाला प्रजापालन में तत्पर हैं।१३। वह निश्चित ही प्रमाद से भी दूसरों को क्लेश करने वाले वचन नहीं बोलता विनयवान नीति शास्त्र का ज्ञाता और उपकार में तत्पर हैं।१४। आपका पुत्र सौजन्य, विनय, धर्म-रक्षण, सज्जनों का पालन करना, उत्तम कीर्ति और पूज्य पुरुषों के आदर सत्कार को धारण करता है।१५। सौभाग्य, लावण्य/ सौन्दर्य, कांति, अद्भुत भोग, विचार शक्ति व विद्वत्ता ये गुण इस वरांग में निवास करते हैं।१६। उस वरांग के गुण कीर्तन को करने के लिए वृहस्पति भी समर्थ नहींहै उसके सर्वगुणों को आपके आगे कहने के लिए हम लोग कैसे समर्थ हो सकते हैं।१७। हे राजन्! आपके पुत्र के गुणोंको आप ही देखें। क्या हाथ मेंस्थित रेखा को देखने के लिए दर्पण धारण किया जाता है।१८। राजा ने उन मंत्रियों के वचनों को सुनकर के कहा कि वह यह वरांग ही धन्य है जिसके गुण विद्वानों के द्वारा वर्णन किए जाते हैं।१९। जिसके गुणों को निःसंग रागद्वेष से रहित विद्वान् मुनि कहते हैं वह ही सज्जन उत्तम कुल वाला पुरुषोत्तम ही है।२०। राज्य और राष्ट्र की समृद्धि के लिए उस सुजनता के सागर, वरांग के लिए युवराज पद को देकर हम सब सुखी होंगे।२१। और मेरे सभी पुत्रों में वरांग अत्यन्त उत्तम गुणों वाला है इसलिए इसके लिए मैं हर्षपूर्वक युवराज पद को देना चाहता हूँ।२२। श्री धर्मसेन राजा के आनन्द से भरे हुए वचनों को सुनकर मंत्रियों ने कहा हे स्वामिन् आपके द्वारा बहुत अच्छा कहा गया।२३। हम लोगों के द्वारा कहने योग्य उस

विज्ञापनीयमस्माभिर्नाथेनोक्तं तदेव हि । रोगिणो हृदयस्थं यत्ख्यातं वैद्येन भेषजम् ॥२४॥
राजराजोपमो राजा, निशम्य सचिवोदितम् । दधानोऽधिक-मानन्द-मालोच्य सचिवैः समम् ॥२५॥
सुदिने सुमुहूर्ते च, सुलग्ने बलशालिनी । श्रीवराङ्गं सुसंस्नाप्य, शुद्धस्वर्ण-घटोदकैः ॥२६॥
विभूष्य भूषणैर्वस्त्रैः, स्वर्णरत्नविनिर्मितैः । सिंहासने निवेश्यास्मै युवराज पदं ददौ ॥२७॥
सिंहासनसमारुढं वीज्यमानं च चामरैः । तं छत्रलक्षणोपेतं, प्रणेमुः [१]प्रमदाज्जनाः ॥२८॥
विधाय स महीपालः, पत्तने परमोत्सवं । याचकानाथदीनेभ्यो ददौ दानं यथेप्सितम् ॥२९॥
तत्कल्याणक्षणे राजा सामन्ता मन्त्रिणोऽपि च । बभूवु-रपरे पौरा, आनन्दमय-मानसाः ॥३०॥
स्वतेजसा रराजासा-वभिभूय नृपात्मजान् । युवराजोऽमलो व्योम्नि ग्रहानिव दिवाकरः ॥३१॥
दृष्ट्वा सिंहासनारूढं युवराजं नृपात्मजाः । अत्रपुस्ते सुषेणाद्या निजपौरुष-गर्विताः ॥३२॥
प्रकम्पिताधरौष्ठास्ते, कोप-लोहित-लोचनाः । वक्तुमारेभिरे चैवं, सभायां धृतमत्सराः ॥३३॥
महीपालस्यः पुत्राः किं, न भवामो गुणैरमुं । नातीतास्तु वराङ्गं किं, नो वा राज्ञः प्रियङ्कराः ॥३४॥
मलिना मातृपक्षे किं, पितृपक्षे न निर्मलाः । वीर्यधैर्यविहीनाः किं, शस्त्रशास्त्रक्षमा न किम् ॥३५॥

१. प्रमुदा जनाः ।

बात को आप स्वामी के द्वारा ही कही गई। रोगी के हृदय में स्थित जो औषधि/दवाई है उसी दवाई को वैद्य ने कहा।२४। कुबेर के समान सम्पन्न राजा ने मंत्रियों के वचनों को सुनकर मंत्रियों के साथ विचार कर अधिक आनंद को धारण करते हुए बलशाली शुभ दिन, शुभ मुहूर्त्त और शुभ लग्न में शुद्ध स्वर्ण के कलशों के जल द्वारा श्री वरांग को अच्छी तरह स्नान कराके स्वर्ण रत्नों से बने हुए आभूषण और वस्त्रों से विभूषित कर सिंहासन पर बैठाकर इसके लिए युवराज पद को दे दिया।२५-२७। सिंहासन पर विराजमान और चामरों के द्वारा वीज्यमान छत्री के लक्षणों से अर्थात् तलवार, धनुष और बाण से सहित उस युवराज वरांग को प्रजाजनों ने हर्ष से प्रणाम किया।२८। उस धर्मसेन राजा ने नगर में उत्तम उत्सव को करके याचक अनाथ और गरीबों के लिए इच्छानुसार दान दिया।२९। उस कल्याण/उत्सव के समय मेंराजा, सामंत, मंत्री और नगर के अन्य नगरवासी आनंदमय मन वाले हो गये।३०। युवराज ने अपने तेज से सभी राजकुमारोंको जैसे सूर्य निर्मल आकाश के मध्य अन्य ग्रहोंको पराभूत/तिरस्कृत करता है उसी तरह किया था। सिंहासन पर विराजमान युवराज को देखकर इसके सामने अपने पौरुष से गर्व युक्त वे सुषेण आदि राजकुमार तेज हीन सलज्ज हो गए थे।३१-३२। प्रकंपित अधरोष्ट वाले, कोप से लाल नेत्र वाले और मात्सर्य को धारण करने वाले उन राजकुमारों ने सभा में इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया।३३। क्या हम लोग राजा के पुत्र नहीं हैं, क्या हमने गुणों के द्वारा वरांग को पार नहीं किया अथवा क्या हम लोग राजा के प्रिय करने वाले नहीं हैं।३४। क्या हम माता पक्ष की अपेक्षा मलिन हैं क्या हम पिता पक्ष की अपेक्षा निर्मल नहींहैं क्या बल और धैर्य रहित है क्या शस्त्र-शास्त्र मेंसमर्थ नहीं हैं।३५। हम लोग बड़े हैं

वयं ज्येष्ठाः कनिष्ठोऽयं तथाप्यस्मै महीभुजा । युवराजपदं दत्तं तद्युक्तं किं नु कथ्यताम् ॥३६॥
प्रजाधिप-प्रजामात्यैर्वितीर्णेऽ[१]स्मदं विरोधतः । राज्ये राज्यं कियत्कालं वराङ्गोऽयं करिष्यति ॥३७॥
तेषा-मित्येव-मादीनि, वाक्यान्याकर्ण्य मन्त्रिणः । निवारयाम्बभूवुस्ते, राजपुत्रान्महोद्धतान् ॥३८॥
भो भो राजसुता! यूयं यदि शास्त्र-विशारदाः । श्रूयता[२]मस्मदीयानि वाक्यानि हित-काङ्क्षया ॥३९॥
किं [३]ज्येष्ठेन कनिष्ठेन देहि-भाग्योदयो बली । नो हन्ति मत्त-मातङ्गं रणे किं शिशु-केशरी ॥४०॥
देव-पौरुष-सामर्थ्य-सम्पन्ने गुणशालिनि । वराङ्गे विहिता स्पर्द्धा न भवेत्फलदायिनी ॥४१॥
न वंशो न गुणो लोके, न सहायो न पौरुषं । प्राग्भवोपार्जितं पुण्यं, पुंसा-मैश्वर्य-कारणम् ॥४२॥
वचांसि मन्त्रिणां श्रुत्वा दातु-मुत्तर-मक्षमा । स्वं स्वं वेश्म कुमारास्ते विलक्ष-वदना ययुः ॥४३॥
आनन्द-मुद्वहन्तोऽन्ये, नृपमन्त्रिपुरस्सराः । स्मरन्तो युवराजस्य गुणान्स्वं स्वं गृहं गताः ॥४४॥
राजस्त्रीभिः सहासीना, भूपालप्रहितान्नरात् । राज्यलाभं शृणोति स्म, स्वसूनोर्गुणदेव्यपि ॥४५॥
दत्वा दानं नरायास्मै सा जगाविति तोषतः । तासामग्रे सपत्नीनां राज्ञी राजीवलोचना ॥४६॥
अद्याहं कृतकृत्यास्मि, धन्या पूर्णमनोरथा । अद्य राज्ञः प्रिया जाता प्रियो मेऽद्य प्रियङ्करः ॥४७॥
श्लाघनीयास्मि लोकेऽहं, माननीया मनीषिणां । पुत्रराज्योत्सवे जाते, फलितः पुण्यपादपः ॥४८॥

१. स्मै । २. मस्मादादीनि........। ३. ज्येष्टेन कनिष्टेन

यह छोटा है, तो भी इसके लिए राजा ने युवराज पद दिया, क्या यह ठीक है आप लोग निश्चयपूर्वक कहिए।३६। राजा प्रजा और मंत्रियों के द्वारा राज्य देने पर यह वरांग हमारे विरोध होने पर कितने काल तक राज्य करेगा।३७। उन राजपुत्रों के इस प्रकार के वचनोंको सुनकर मंत्रियों ने महाउद्धत उन राजपुत्रों को इस प्रकार निवारण किया।३८। भो-भो राजपुत्रों यदि तुम लोग शास्त्र के ज्ञाता हो तो हित की इच्छा से हमारे वाक्यों को सुनों।३९। बड़े होने से क्या? और छोटे होने से क्या? देहधारियों/प्राणियों का भाग्य उदय ही बलवान है। क्या शेर का बच्चा युद्ध में हाथियों को नहीं मारता अर्थात् अवश्य मारता है।४०। भाग्य और पुरुषार्थके समर्थ्य से सम्पन्न गुणशाली वरांग के विषय में की गई प्रतिस्पर्धा फल को देने वाली नहीं होगी।४१। लोक में पुरुषों के पूर्व भव मेंउपार्जित पुण्य ही ऐश्वर्य का कारण हैं, वंश,गुण, सहायक और पुरुषार्थ नहीं।४२। मंत्रियों के वचनों को सुनकर उत्तर देने में असमर्थ म्लान/मलिन मुख वाले वे सभी राजकुमार अपने अपने घर को चले गये।४३। राजा और मंत्री के साथ आनंद को धारण करते हुए अन्य लोग युवराज के गुणों को स्मरण करते हुए अपने-अपने घर गये।४४। राजा की अन्य स्त्रियों के साथ बैठी हुई गुणदेवी ने भी राजा के द्वारा भेजे गए मनुष्य से अपने पुत्र के, राज्य की प्राप्ति को सुना।४५। उस सूचना देने वाले मनुष्य को दान/उपहार देकर उस कमललोचना रानी ने राजा की उन रानियों के सामने संतोष पूर्वक इस प्रकार कहा।४६। आज मैं कृत-कृत्य हूँ धन्य हूँ पूर्ण मनोरथ वाली हूँ आज राजा की मैं प्रिय हुई हूँ। आज मेरा प्रिय प्रिय को करने वाला हुआ है।४७। मैं; लोक मैं प्रशंसनीय हूँ, मनीषी/विद्वानों में सम्माननीय हूँ, पुत्र के राज्योत्सव होने पर पुण्यरूपी वृक्ष फलित हुआ है।४८। पास में स्थित

सपत्न्योऽपि समीपस्थाः, प्राहुः कल्याणि! सर्वदा। स्वर्धुनीव नदीनां त्वं, मुख्यास्माकं न संशयः ॥४९॥
त्वमेव भगिनी [1]ज्येष्ठा, मातेव हितचिन्तिका । सम्मानसम्प्रदानार्हा, भवास्माकमतः परं ॥५०॥
तत्रापि मृगसेनासौ, कोपपूरितमानसा । केवलं वचसा सम्यक्सम्भाष्य सदनं गता ॥५१॥
तत्रोपविश्य चैकान्ते, रुदन्ती साश्रुलोचना । सगद्गदं च जल्पन्ती, चिन्तामिति चकार सा ॥५२॥
विचारेण विना राज्ञा, कार्यमेतत्कथं कृतं ? दोषो नास्त्यथवा राज्ञो, विपाको मम कर्मणाम् ॥५३॥
महीपतेः प्रिया नाहं, सुषेणस्तनयो न किं ? किं वा विचारयाम्येतदीश्वरेच्छा बलीयसी ॥५४॥
राज्याद्वराङ्गमुन्मूल्य, तत्पदे मत्सुतं यदा । सुषेणं स्थापयिष्यामि, कृतार्थास्मि तदा त्वहम् ॥५५॥
विचिन्त्येति समाहूय, सा सुषेणं निजं सुतम् । कोप-कम्पितसर्वाङ्गी जगाद मृगसेनिका ॥५६॥
पुत्रे जीवति को लाभो, मृते हानिश्च का मता। माता स्वमानभङ्गेन, दुःखिता यदि जीवति ॥५७॥
राजपुत्रेषु सर्वेषु, त्वमेव वयसाग्रणीः । वराङ्गाय ददौ राजा, युवराजपदं कथम् ?॥५८॥
विभूतिं तां वराङ्गस्य गुणदेव्याश्च साम्प्रतम्। विलोक्याहं च वाञ्छामि मरणं न च जीवितम् ॥५९॥
अनुभूतं श्रुतं दृष्टमम्ब! [2]तत्ते विचेष्टितं । करिष्यति कथं राज्यं वराङ्गो मयि जीवति ? ॥६०॥
संभाष्य जननीमेवमाहूय निजमंत्रिणं । वदति स्म सुषेणोऽसौ कोपापास्त-विवेकधीः ॥६१॥

१. ज्येष्टा। २. तात्।

राजा की अन्य रानियों ने भी गुणवती रानी से कहा हे कल्याणि तुम सदा गंगा नदी के समान पवित्र हो हम लोगों में मुख्य हों इसमें कोई संशय नहीं हैं।४९। हित का चिन्तन करने वाली माता के समान तुम ही बड़ी बहन हो और सम्मान प्रदान करने के योग्य हो अतः हम सबमें ज्येष्ठ हो।५०। राजा की उन अन्य रानियों में कोप से भरे हुए मन वाली यह मृगसेना नामक सुषेण की माँ केवल वचनों से अच्छा बोलकर घर को चली गई।५१। तथा वहाँ घर में एकान्त में बैठकर अश्रुपूर्वक नेत्रों वाली रोती और हुई गद्-गद् सहित बोलती हुई उसने इस प्रकार चिंता को किया।५२। राजा के द्वारा बिना विचारे यह कार्य कैसे किया गया अथवा राजा का दोष नहींहैं, मेरे कर्मों का फल हैं।५३। क्या मैं राजा की प्रिया नहीं हूँ और क्या सुषेण उनका पुत्र नहींहैं अथवा इस विषय में मैं क्या विचार करूँ ईश्वर की इच्छा ही अर्थात् कर्म का फल ही बलवान है।५४। जब राज्य से वरांग को हटाकर उस पद पर मेरे पुत्र सुषेण को स्थापित करूँगी, उस समय ही मैं कृतार्थ होऊँगी।५५। इस प्रकार विचार कर उस क्रोध से कम्पित सर्वांग वाली मृगसेना रानी ने अपने पुत्र सुषेण को बुलाकर इस प्रकार कहा।५६। अपने मान के भंग से अगर माता दुःख पूर्वक जीती है तो पुत्र के जीवित रहने पर क्या लाभ है और पुत्र के मरने पर क्या हानि मानी जावे।५७। सभी राजपुत्रोंमें तुम्हीं उम्र में सबसे बड़े हो। फिर राजा ने वरांग के लिए युवराज पदको कैसे दे दिया।५८। इस समय वरांग और गुणदेवी की उस विभूति को देखकर मैंमरण को चाहती हूँ। जीवित नहीं रहना चाहती हूँ।५९। हे माता मैंने पिता की चेष्टा को अनुभव किया है सुना है और देखा है मेरे जीवित रहते हुए वरांग कैसे राज्य करेगा।६०। इस प्रकार माता से बात कर क्रोध से नष्ट हो गई है विवेक बुद्धि

संग्रामं कर्तुमिच्छामि, वराङ्गेण समं ततः । त्वया मन्त्रिन्प्रदातव्या, पुरे पटहघोषणा ।।६२।।
मानभंगेऽवनीशानां, द्वयमेव प्रियं मतम् । सङ्गरे विजयोऽरीणां, खड्गाग्रे मरणं तथा ।।६३।।
ततो विजित्य संग्रामे, वराङ्गं सचिवाधुना । करोमि राज्यं निःशङ्को, मरणं वाहमाश्रये ।।६४।।
वदन्तमिति तं राजपुत्रं समर-काङ्क्षिणं । मंत्री निवारयामास, मृगसेनां च तद्यथा ।।६५।।
दैवपौरुष-सामर्थ्य-सम्पन्ने पुरुषे नरैः । विरोधो नैव कर्तव्यो, भाग्यं बलवतां बलम् ।।६६।।
चक्रिणो बलदेवाश्च वासुदेवाश्च भूतलम् । साधयन्त्यखिलं पूर्वार्जितपुण्यप्रभावतः ।।६७।।
कः समर्थः सुपुण्यानाम, पुण्यानां च देहिनाम् । प्रयत्ना-दन्यथा कर्तुं, शुभाशुभफलोदयम् ।।६८।।
न कुलं न च विद्याश्च, न च वाक् न च पौरुषम् । गुणिनो निर्गुणस्यापि, भाग्यं सर्वार्थसाधकम् ।।६९।।
पुण्यात्मनां नृणां लोके, स्वयमेव सहायताम् । नराः सुरासुरा नागा व्रजन्तीति किमद्भुतम् ।।७०।।
प्रेर्यमाणा वराङ्गस्य, पुण्यैरेतैः पुरातनैः । नृपामात्यादयो लोकाः, पक्षपात-मुपागताः ।।७१।।
वराङ्गो बलवाञ्जेतुं, शक्योऽस्माभिर्न [1]सङ्गरे । तद्विरोधे विरोधोऽपि, जायेत बहुभिः समं ।।७२।।
बहवो न विरोद्धव्या, यतो नीतावुदाहृतं । विनश्यति विरोधेन, बहूनां बलवानपि ।।७३।।
गुप्तवृत्या तथोपायाद्, व्याजात्काल-मवाप्य च । मन्त्रभेदस्य सामर्थ्यात्करिष्येऽतस्तवेप्सितं ।।७४।।

१. सांगरे

जिसकी ऐसे उस सुषेण ने अपने मंत्री को बुलाकर कहा ।६१। इसके बाद मैं वरांग के साथ युद्ध करना चाहता हूँ। हे मंत्रिन्। तुम्हारे द्वारा नगर में पटह घोषणा करनी चाहिए।६२। राजाओं के मानभंग होने पर दो बातें प्रिय मानी गई है युद्ध में शत्रुओं की विजय अथवा तलवार के अग्र भाग से मरण।६३। हे मंत्रिन्! इसके बाद मैं आज युद्ध में वरांग को जीतकर निःशंक राज्य करता हूँ अथवा मरण का आश्रय लेता हूँ।६४। इस प्रकार कहने वाले युद्ध के इच्छुक उस राजपुत्र को और मृगसेना रानी को मंत्री ने रोका।६५। भाग्य और पुरुषार्थ की सामर्थ्य से सम्पन्न पुरुषों के विषय में मनुष्यों के द्वारा विरोध नहींकिया जाना चाहिए। क्योंकि बलवानों का बल भाग्य है ।६६। पूर्वोपार्जित पुण्य के प्रभाव से चक्रवर्तीबलदेव और वासुदेव सम्पूर्ण भूमंडल को सिद्ध करते हैं अर्थात् जीतते हैं स्वाधीन करते हैं ।६७। पुण्यवान और अपुण्यवान् प्राणियों के शुभ अशुभ कर्म के फल के उदय को प्रयत्न से भी अन्य प्रकार करने के लिए कौन समर्थ है अर्थात् कोई नहीं।६८। तथा न कुल न विद्याएँ न वचन न पुरुषार्थ किंतु गुणी और निर्गुणी का भी भाग्य ही सर्व प्रयोजनों को सिद्ध करने वाला है ।६९। लोक में पुण्यात्मा मनुष्यों की सहायता को मनुष्य सुर असुर नागकुमार स्वयं ही आते हैं इसमें क्या आश्चर्य है ।७०। वरांग के इन पुरातन पुण्यों से प्रेरित हुए राजा मंत्री आदि प्रजा के लोग पक्षपात को प्राप्त हुए हैं।७१। हमारे द्वारा युद्ध में बलवान वरांग को जीतना शक्य नहीं हैं, उसके साथ विरोध करने पर बहुत लोगों के साथ भी विरोध होगा।७२। क्योंकि नीति में कहा गया है बहुत के साथ विरोध नहीं करना चाहिए बहुत के साथ विरोध करने से बलवान भी विनष्ट हो जाता है ।७३। अतः गुप्त रीति से उसी तरह के उपाय से छल से समय को पाकर और मंत्र

स्वसमीहित सिध्यर्थं, गूढमन्त्रो भवाधुना । [1]विचार्य कुर्वतां कार्यं, पुंसां [2]सिद्धयेन्न संशयः ॥७५॥
सम्बोध्यैवं सुबुद्धिस्तौ, ताभ्यां सम्पूजितस्ततः । यतो नित्यं वराङ्गेऽसौ, छिद्रान्वेषणतत्परः ॥७६॥
उद्याने क्रीडने राज्ञः, सभायां बलसाधने । याने शय्यासने मन्त्री, कौटिल्य-मतनोत्कुधीः ॥७७॥
धूपाञ्जनसुताम्बूल-भेषजेषु विलेपने । कौटिल्यं कर्तुमारेभे, युवराजस्य दुष्टधीः ॥७८॥
राज्याद्वराङ्ग-मुच्छेद्य, सुषेणं धर्तुमत्र च (सः) । [3]सङ्कटं चिन्तयंस्तथौ, सुबुद्धिर्दुष्ट-मानसः ॥७९॥
तुरङ्ग-मत्त-मातङ्ग-पदातिरथ-सङ्कुलं । राज्यं वराङ्गराजोऽपि, पित्रा दत्त-मपालयत् ॥८०॥
देशकोशबलैः सम्यक्सम्पदा सोऽन्वहं नृपः । राज्यं च पूरयामास, सुकीर्त्या भुवनं यथा ॥८१॥
नित्यं नवनवान्भोगान्निजस्त्रीभिः पृथग्विधान् । भुङ्क्ते [4]बालावनीशोऽयं सर्वावयवसौख्यदान् ॥८२॥
आहाराभयभैषज्य, शास्त्रदानान्यनेकधा । कुर्वन् गुरौ च देवे च भक्तिं तिष्ठति भूमिपः ॥८३॥
[5]रक्षन् राज्यं निजं राष्ट्रं प्रजां च निरुपद्रवं । कालं निनाय भूपालः, श्रीभोज-कुल-शेखरः ॥
अथान्यदा गुणान् श्रुत्वा, युवराज-महात्मनः । [6]प्रहितौ भगलीशेन, तस्मै जात्यौ किशोरकौ ॥८४॥
चपलौ रूपसम्पन्नौ [7]ससारौ बहुभोजनौ । खुराग्रैः [8]प्रखरैः क्षोणीं खनन्तौ शुभलक्षणौ ॥८५॥
युवराजो विलोक्याश्वौ चिन्तयामास चेतसि । आवर्ततिलकाद्यैश्च, लक्षितौ शुभलक्षणैः ॥८६॥

---

१. विचार्या चरतां । २. सिद्धिर्न । ३. कपटं । ४. बलवान् नीशोऽयं । ५. रक्ष्यन् । ६. प्रेषितौ । ७. सरोषौ । ८. प्रखरी ।

भेद की साम्यर्थ से हे कुमार! तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण करेंगे ।७४। अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए इस समय गूढ़ मंत्र वाले होओ। क्योंकि विचारपूर्वक कार्य का आचरण करने वाले पुरुषों के कार्य सिद्ध ही होते हैं। इसमें संशय नहीं हैं ।७५। इस प्रकार बुद्धिशाली सुबुद्धि मंत्री उन दोनों को संबोध कर और उनसे सम्मानित होता हुआ, और इस कारण से यह मंत्री वरांग के विषय में हमेशा दोष देखने में तत्पर रहने लगा ।७६। राजा के बगीचे में, क्रीड़ा में, सभा में, बल साधन में, वाहन में, शय्या में आसन में, दुष्ट बुद्धि वाला मंत्री कुटिलता को करने लगा ।७७। उस दुष्ट बुद्धि मंत्री ने युवराज के धूप में अंजन में ताम्बूल में औषधियो में कुटिलता करना आरम्भ किया ।७८। दुर्बुद्धि दुष्ट मन वाला वह सुबुद्धि मंत्री वरांग को राज्य से हटाकर और वहाँ पर सुषेण को स्थापित करने के लिए कपट संकट का चिंतन करता हुआ स्थित रहा ।७९। वह वरांग राजा भी पिता के द्वारा दिये हुये घोड़ा मत्त हाथी, पैदल, सिपाही और रथों से व्याप्त राज्य का पालन करने लगा ।८०। वह वरांग राजा प्रतिदिन देश कोष और सेना के द्वारा सम्पदा से राज्य को अच्छी तरह पूर्ण करने लगा जैसे सुकीर्ति से लोक को पूर्ण किया था ।८१। यह बाल राजा हमेशा सभी अवयवों को सुख देने वाले नवीन-नवीन भोगों को अपनी स्त्रियों के साथ विभिन्न प्रकार से भोगता था ।८२। यह वरांग राजा आहार, अभय, औषध और शास्त्रदानों को अनेक प्रकार से करता हुआ गुरु और देव में भक्ति को करता हुआ रहता था ।८३। उपद्रव रहित अपने राज्य राष्ट्र और प्रजा की रक्षा करते हुए उस श्रीयुत भोजकुल के मुकुट स्वरूप प्रधान वरांग युवराज ने कुछ काल व्यतीत किया

सप्तसप्तिरथं मुक्त्वा, किमायातौ भुवं हयौ । किमुच्चैश्रवसः साक्षात्स्वर्गादिव सहोदरौ ।।८७।।
अहो गति-रहो! रूप-महो! हेषारवोऽनयोः । व्यामोहं कुरुतो विश्व-जनाना-मवलोकनात् ।।८८।।
विचिन्त्येति चिरं राजा, जगादैवं सभान्तरे । शिक्षालापक्रियायां च, विनेतुं कः क्षमोऽस्त्यमू ।।८९।।
निशम्य भूपतेर्वाक्यं, सुबुद्धिं सचिवस्तदा । उत्थाय तं नमस्कृत्य, वाचमित्यूचिवान् तदा ।।९०।।
अश्वशिक्षागमं वेद्मि, तत्राभ्यासो महान्मम । ततो विनेतुमिच्छामि, हयो नाथ! तवाज्ञया ।।९१।।
श्रुत्वैवं तद्वचो राजा वाजिनौ मन्त्रिणे ददौ । प्रणम्य भूपतिं सोऽपि, [1]ताभ्यां सह गृहं ययौ ।।९२।।
मनसा निर्मलो राजा, मनोमलिनमन्त्रिणः । [2]मायावृत्तिं न जानाति, दुर्भेद्यं दुष्टचेष्टितं ।।९३।।
वाजिनौ शिक्षितौ तेन मन्त्रिणा निजवेश्मनि । शिक्षालाप-क्रमेणैकोप्यपरस्तद्व्यतिक्रमात् ।।९४।।
[3]सञ्चार-सूचकै-र्वाक्यै-र्मर्मदेश-प्रताड़नैः । प्रेर्यमाणश्चलत्त्येकस्तिष्ठत्यन्यस्तुरङ्गमः ।।९५।।
सचिवस्योपदेशेन, प्राप्तौ सुगतिदुर्गती । हयोत्तमौ यथा जीवाः स्वशुभाशुभकर्मणा ।।९६।।

१. सह्यौ गृह-माययौ। २. मायावृत्तं। ३. संसार।

उसके बाद अन्य किसी समय महान् आत्मा युवराज के गुणों को सुनकर भगली देश के राजा ने दो किशोर उत्तम घोड़ों को भेंट में भेजा।८४-८६। वे दोनों घोड़े चपल, रूप सम्पन्न, सारयुक्त, रोष युक्त क्रोधी बहुत भोजन करने वाले प्रखर खुरोंके अग्रभाग से पृथ्वी को खोदते हुए शुभ लक्षण वाले उन घोड़ों को इस वरांग युवराज ने देखकर मन में विचार किया कि आवर्त (भँवरी) तिलक आदि के द्वारा शुभ लक्षणों से सहित, ये दोनों घोड़े क्या सूर्य के रथ को छोड़कर पृथ्वी पर आये हैं, क्या ये दोनों घोड़े साक्षात् स्वर्ग से आये हुए इन्द्र के घोड़े उच्चैश्रव के भाई हैं।८७। इन दोनों घोड़ों की आश्चर्यकारी गति है विस्मयकारी रूप आश्चर्यकारी (हेषा शब्द) हिनहिनाहट है, जो सभी लोगों को देखने से व्यामोह को करते हैं।८८। इस प्रकार राजा ने चिरकाल तक विचार कर सभा के मध्य में इस प्रकार कहा कि इनको शिक्षा आलाप में शिक्षित करने के लिए कौन समर्थ है।८९। तब राजा के वचन को सुनकर सुबुद्धिमंत्री ने उठकर उस राजा को नमस्कार कर हर्षपूर्वक इस प्रकार वचन बोला।९०। मैं घोड़े की शिक्षा के ज्ञान को जानता हूँ उसमें मेरा बहुत अभ्यास है। हे राजन्! हे नाथ! आपकी आज्ञा से मैं घोड़े को सिखाने की इच्छा करता हूँ, घोड़े को सिखाना चाहता हूँ।९१। इस प्रकार उस मंत्री के वचनों को सुनकर राजा ने घोड़ों को मंत्री के लिए दे दिए और वह मंत्री भी राजा को प्रणाम कर उन घोड़ों के साथ घर को गया।९२। राजा मन से निर्मल था, मन से मलिन मंत्री की, माया की प्रवृत्ति को नहीं जानता, दुष्टों की चेष्टा दुर्भेद्य होती है।९३। उस मंत्री ने अपने घर में उन घोड़ोंको शिक्षित किया। शिक्षा आलाप के क्रम से कोई अनकूल और कोई प्रतिकूल क्रम वाला था।९४। संचार सूचक वचनों के द्वारा और मर्म स्थानों के प्रतारण द्वारा प्रेरित किये हुए एक घोड़ा चलता है और एक ठहरता है।९५। मंत्री के उपदेश से उन दोनों उत्तम घोड़ों ने अच्छी गति और दुर्गति को प्राप्त किया जैसे जीव अपने शुभाशुभ कर्म से सुगति और दुर्गति को प्राप्त करते हैं।९६।

नवं यौवनं [1]प्राज्यराज्यं नवं, च नवस्त्री-नवस्नेह-भावानुबन्धम्।
पुरा पुण्यमाहात्म्य[2]लब्ध्या सुभोगांश्चिरं सेवमानो रराजाधिराजः॥९७॥
सदा भावयन्पुण्य-माहात्म्य-मीशो, वराङ्गः सदा स्वीकृताचार-शुद्धः।
[3]छिद्रान्वेषिणा मन्त्रिणा सेव्यमानो, बुधैः स्तूयमानश्च राज्यं चकार॥९८॥

१. यौवराज्यराज्यं। २. लब्धान्। ३. छलान्वेषिणः

इति श्रीपरवादि-दन्तिपञ्चानन-श्रीवर्धमानदेव-भट्टारक-विरचिते वराङ्गचरित्रे वराङ्गयुवराजपदलाभतुरङ्गमागमनो नाम चतुर्थः सर्गः॥

नवीन यौवन को नवीन उत्कृष्ट राज्य को और तरुण स्त्रियों की उत्तम प्रीति को स्नेह भावों के संबंध को पूर्व पुण्य के महात्म्य से प्राप्त हुए अच्छे भोगों को चिरकाल तक सेवन करता हुआ यह राजाओं का राजा सुशोभित हुए।९७। यह वरांग राजा सदा पुण्य के महत्व की सदा भावना करता हुआ सदा स्वीकृत आचार से शुद्ध छल छिद्रान्वेषी मंत्री से सेवित और विद्वानों के द्वारा स्तुत होता हुआ राज्य को करता था।९८।

इस प्रकार परवादी रूपी हाथी के लिए सिंह स्वरूप वर्धमान भट्टारक देव विरचित वरांग चरित्र में वरांग के युवराज पद का लाभ और घोड़े के आगमन का वर्णन वाला चौथा सर्ग पूर्ण हुआ।

—00000—

पञ्चमः सर्गः

दिवाकर-करोद्योत-द्योतके भवनेऽन्यदा । समानैर्वयसा राजकुमारैः परिवेष्टितः ॥१॥
सचिवैः सेवकैश्चान्यै-रुत्साह-हसिताननः । बाह्यप्रदेशे [1]बाहेभ्यो युवराजः समाश्रितः ।युग्मं। ॥२॥
लीलया लोकयंस्तत्र, वाह्यमानांस्तुरङ्गमान् । नरैर्निजैः स्थितो राजा, सुबुद्धिस्तावदाययौ ॥३॥
स प्रणम्य महीपालं, पुरस्कृत्य तुरङ्गमौ । स्वशक्तितः स्थितो यावत्तावदुक्तो महीभुजा ॥४॥
सुबुद्धे! सुन्दराकारा-वेतावश्वौ यथा त्वया । दमिता-वेनयोर्लीला-खेलनं मे प्रदर्शय ॥५॥
इत्युक्तो भूभुजा सोऽपि, समारुह्यातिवेगतः शिक्षागमानकूलं [2]त,-मर्वन्तं खेलगामिनम् ॥६॥
सलीलं गमयन्वीथ्यां, जहार युवभूपतेः । चित्तं हयगुणैरैष मन्त्री पूर्णमनोरथः ।युग्मं। ॥७॥
अश्वशिक्षागमाभ्यास-कुशलं तं महीपतिम् । विदित्वा स्ववचोप्येव-मुवाच स्वमनोगतं ॥८॥
अस्मा-दप्यधिको नाथ!, वर्ततेऽन्यस्तुरङ्गमः । पश्य तद्गतिवैचित्र्य-मारुह्य स्वय-मेव हि ॥९॥
श्रुत्वैतद्वचनं बाल-भूपालस्तं तुरङ्गमं । अविलम्बित-मारुढो यौवनैश्वर्य-गर्वितः ॥१०॥
हेमोपकरणद्योत-द्योतिताशाननं हयं । सहसा वाह्यामास, राजा प्राप्तव्यतेरितः ॥११॥
दुःशिक्षितो गतो दूरं, तुरगो वायुरंहसा । धर्तुं शक्यो न केनापि, धनुर्मुक्तशरो यथा ॥१२॥

१. प्रदेशे वाह्ये वाहाल्पो वाहेभ्यः । २. तं ।

एक समय सूर्य की किरणों के प्रकाश से प्रकाशित भवन में समान उम्र वाले राजकुमारों से मंत्रियों और अन्य सेवकों से सब ओर से घिरे हुए उत्साह से प्रसन्न मुख वाला युवराज बाह्य प्रदेश में घोड़ों से सहित थे ॥ १-२॥ वहाँ भवन के बाहर विनोद पूर्वक सवारी किए हुए घोड़ों को देखते हुए राजा अपने आदमियों से सहित स्थित था। तब तक सुबुद्धि मंत्री आ गया ॥३॥ वह मंत्री राजा को प्रणाम कर और घोड़ों को आगे कर जब तक अपनी शक्ति से स्थित था तब तक राजा ने कहा ॥४॥ हे सुबुद्धि मंत्रिन्! सुन्दराकार वाले इन घोड़ों को तुम्हारे द्वारा बस में किया गया है इनकी क्रीड़ा और खेल को मुझे दिखाओ ॥५॥ राजा के द्वारा इस प्रकार कहा गया वह मंत्री भी वेग से घोड़ा पर सवार हो गया और शिक्षा शास्त्र के अनकूल क्रीड़ा पूर्वक गमन करने वाले उस घोड़े को लीलापूर्वक मार्ग में घुमाते हुए युवराज का मन घोड़ों के गुणों द्वारा हरा गया जिससे यह मंत्री पूर्ण मनोरथ वाला हो गया ॥६-७॥ उस राजा को अश्व विद्या शास्त्र के अभ्यास में कुशल जानकर उस मंत्री ने अपने मन में स्थित अपने वचन को इस प्रकार कहा ॥८॥ हे राजन्! इससे भी अधिक गुण वाला अन्य घोड़ा भी है उसकी गति की विचित्रता को देखो उस पर सवार होकर स्वयं जानों ॥९॥ उस मंत्री के इन वचनोंको सुनकर यौवन और ऐश्वर्य से गर्वित वह युवराज वरांग उस घोड़े पर बिना विलम्ब के आरुढ़/सवार हुआ ॥१०॥ स्वर्ण के उपकरणों के प्रकाश से प्रकाशित है दिशायेंजिससे ऐसे मुख वाले घोड़े को भाग्य से प्रेरित राजा ने शीघ्र ही चलाया ॥११॥ खोटी शिक्षा से शिक्षित घोड़ा वायु के वेग से दूर चला गया जैसे धनुष से छोड़ा गया बाण किसी के द्वारा भी नहींरोका जा सकता ॥१२॥ जैसे-जैसे वरांग के द्वारा यत्नपूर्वक ठहरने के लिए अश्व को रोका जाता है वैसे-वैसे वह

यथा यथा वराङ्गेण, यत्नादश्वो निवार्यते । स्थित्यर्थं ध्रियते रोषाद्धावत्येव तथा तथा ॥१३॥
अनुगन्तुमशक्तास्तं, वाजिनं कुञ्जरा नराः । व्याघुट्य गृहमायाता, इतरेऽपि महाजवाः ॥१४॥
वल्गाभिर्वारितो राज्ञा, मुखशृङ्खलया धृतः । दूरं गतोऽतिवेगेन, प्रतिकूलक्रियो हयः ॥१५॥
वराङ्गो दुर्विनीतेन, दूरं नीतस्तु वाजिना । मायया खेचरेणेव, जनको मेदिनीपतिः ॥१६॥
सप्तिना नीयमानस्य, भूपतेर्भूषणानि च । पतितानि महारण्ये लतावृक्षान्तरेषु च ॥१७॥
नदी-सरोवर-ग्राम-खेट-कर्वट-पर्वतान् । व्यतीत्य राज्यं राष्ट्राणि, ययौ दूरं स घोटकः ॥१८॥
[1]श्रमं प्राप्तो महीपालः, शुशोष वदनं तनुः । चकम्पे पिहितौ कर्णौ, दृष्टिर्बभ्राम तत्क्षणात् ॥१९॥
पिहिते तृणवल्लीभिरन्धकूपे पपात सः । वराङ्गो वाजिना तेन, सार्द्ध-मुत्पथ-गामिना ॥२०॥
प्राग्भवोपार्जितेनासौ, प्रेरितो निजकर्मणा । पतित्वा कूपके चात्र, प्रपेदे मरणं हयः ॥२१॥
अन्तराल-लताजालं, धृत्वा राजा विनिर्ययौ । कूपाद्वहिः शनैरेव, भावयन्भवितव्यताम् ॥२२॥
क्षुधातृषाश्रमोत्पन्नपीडापूरित-विग्रहः। अन्धकूपोपकण्ठोर्व्यां, मूर्छामाप महीपतिः ॥२३॥
मन्दशीतानिलेनाप्यायितश्चैतन्यमाप्य सः । उन्मील्य नयनद्वन्द्व-मालोक्य च दिशो दश ॥२४॥
एकाकी दीर्घ-मुच्छ्वस्य, वाष्प-पूरित-लोचनाः । उपविश्यात्र संसारं, निन्निनन्दात्यन्तदुःखितः ॥२५॥
पितुर्मातुर्निजस्त्रीभ्यो बंधुभ्यो राज्यतोऽपि च । कर्मणः परिपाकेन दूरीभूतोऽस्मि संप्रातम् ॥२६॥

१. श्रम-माप्तो।

क्रोध से भागता ही है ॥१३॥ उस घोड़े के पीछे जाने में असमर्थ श्रेष्ठ मनुष्य और अन्य भी महावेगशाली वापिस लौटकर घर आ गये ॥१४॥ मुख की सांकल से धारण की हुई लगाम से राजा के द्वारा घोड़ा रोके जाने पर अति वेग से दूर चला गया क्योंकि घोड़ा प्रतिकूल शिक्षा से शिक्षित था ॥१५॥ विनय से रहित घोड़े के द्वारा वरांग दूर ले जाया गया। जैसे माया से विद्याधर के द्वारा जनक राजा दूर ले जाये गये थे ॥१६॥ और घोड़े के द्वारा ले जाने वाले राजा के आभूषण महावन में लता और वृक्षों के मध्य में गिर गये ॥१७॥ वह घोड़ा नदी सरोवर गाँव, खेत, कर्वट और पर्वतों को एवं राज्य और राष्ट्रों को लाँघ कर दूर चला गया ॥१८॥ श्रम को प्राप्त राजा कंपित हो गया। कान बंद हो गये उसी समय दृष्टि घूम गई मुख और शरीर सूख गया ॥१९॥ उस उत्पथगामी घोड़े के साथ वह वरांग राजा तृण और लताओं से ढँके अंध कूप में गिर गया ॥२०॥ यहाँ पर पूर्व भव में उपार्जित अपने कर्म से प्रेरित यह घोड़ा कुएँमें गिरकर मरण को प्राप्त हो गया ॥२१॥ भवितव्यता-होनहार का विचार करता हुआ राजा कुँए के मध्य लता समूह को पकड़कर धीरे-से कुएँ से बाहर निकल आया ॥२२॥ भूख-प्यास व श्रम से उत्पन्न दुःख से भरे हुए शरीर वाला राजा अंधकूप के पास की भूमि पर मूर्च्छा को प्राप्त हो गया ॥२३॥ वह वरांग मंद शीतल वायु के द्वारा व्याप्त हो चैतन्य/चेतनता को प्राप्त हुआ और दोनों नेत्रों को खोल दशों दिशाओं को देखकर ॥२४॥ आंसुओं से भरे हुए लोचन वाले अकेले वरांग ने दीर्घ उच्छ्वास यानी गहरी श्वास लेकर यहाँ बैठकर अत्यंत दुःखी होते हुए संसार की बार-बार निन्दा की ॥२५॥ इस समय में कर्म के परिपाक से माता-पिता अपनी स्त्रियों व बंधुओं और राज्य से भी दूर हूँ ॥२६॥ सत्य है उस मंत्री के

सत्यं दुर्मन्त्रिणा तेन, कृतकौटिल्यकौशलात् । तुरङ्गारोहणव्याजाद्वञ्चितोऽस्मि न संशयः ॥२७॥
किं करोमि क्व गच्छामि क्व तिष्ठाम्यथवानया । अधुना चिन्तयालं मे नात्र क्लेशः शुभावहः ॥२८॥
ऐश्वर्यभ्रंशवेलायां, बन्धूनां विरहेऽपि च । चित्तस्थैर्यविधानार्थं, कार्यं धैर्यावलम्बनम् ॥२९॥
विषादावसरो नायं, विजने विपिने मम । [1]वसतिश्चात्मरक्षार्थं, युक्तं कर्तुं च कारणम् ॥३०॥
जीवन्पश्यति भद्राणि, पुण्यवान्पुरुषोत्तमः । तस्मात्पुण्यविवृद्ध्यर्थं करोमि व्रतरक्षणम् ॥३१॥
व्रतानि यानि दत्तानि तानि मे गणिना पुरा । भवन्तु निरवद्यानि, दुःखदावाग्निशान्तये ॥३२॥
विचिन्त्येति चिरं कूपे व्युत्सृज्याभरणादिकम् । चचाल बालभूपालः पादाभ्यामेकको भुवि ॥३३॥
विहङ्ग-सिंह-मातङ्ग, श्रृगालव्याल वानरैः । संसेवितं वनं राजा विवेशानोकहाकुलम् ॥३४॥
दिङ्मूढ-मतिना तेन, महारण्यं विगाहता । दिवाकरास्त-वेलायां दृष्टो व्याघ्रः समापतत् (न्) ॥३५॥
मस्तक-न्यस्त-लाङ्गूलं, गुलिका-लोल-लोचनं । कल्पान्त-जलदध्वानं सर्वसत्व-भयङ्करम् ॥३६॥
कृतान्तसोदराकार-मुत्पतन्तं मुहुर्मुहः । दृष्टवा व्याघ्रं [2]समायान्तमारुरोह स पादपम् ।युग्मं। ॥३७॥
ऊर्ध्वमालोकयन्वयाघ्रः खनन्क्षोणीतलं नखैः । जीवानां जनयन्भीति-मायसौ तत्तरोरधः ॥३८॥

१. वसितश्चात्म (वसतश्च अशुद्धपाठः)। २. समायात ।

द्वारा की गई कुटिलता की कुशलता से घोड़े आरोहण (घुड़ सवारी) के फल से मैं ठगाया गया हूँ इसमें संशय नहीं है ॥२७॥ मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, मैं कहाँ रहूँ अथवा इस समय ऐसी चिन्ता करना मेरे लिए योग्य नहीं हैं और ना ही क्लेश करना हितकारक है ॥२८॥ ऐश्वर्य के नाश के समय और बन्धुओं के विरह में भी चित्त की स्थिरता करने के लिए धैर्य का अवलम्बन/आश्रय करना चाहिए।॥२९॥ मुझे एकान्त वन में यह विषाद करने का अवसर नहीं हैं । अपनी स्वयं की रक्षा के लिए कारण भूत योग्य स्थान को करना ठीक है ॥३०॥ पुण्यवान पुरुषोत्तम जीवित रहते हुए कल्याणों को देखता है इसीलिए पुण्य की वृद्धि के लिए व्रतों की रक्षा करता हूँ ॥३१॥ मुझे पहिले वरदत्त गणधर ने जो व्रत दिये थे वे मेरे निर्दोष और दुःखरूपी दावानल की शान्ति के लिए होवें ॥३२॥ इस प्रकार युवराज ने चिरकाल तक विचार कर आभरणादि को कुएँ में विसर्जित कर और पैरों से अकेले ही पृथ्वी पर चल दिया ॥३३॥ पक्षी, सिंह, हाथी, सियार, बाघ और वानरों से अच्छी तरह सेवित वृक्षों से व्याप्त वन में राजा ने प्रवेश किया ॥३४॥ दिशाओं में मूढ़ बुद्धि से अर्थात् दिशाओं के विषय भ्रम को प्राप्त होने से उस वरांग ने महावन में भटकते हुए सूर्य अस्त के समय सामने आते हुए व्याघ्र को देखा ॥३५॥ वह व्याघ्र मस्तक पर रखी हुई पूँछ वाले और नेत्र की पुतली से चंचल नेत्र वाले प्रलय काल के मेघ के समान ध्वनिवाले और सभी प्राणियों को भय करने वाले यमराज के सहोदर के (भाई) समान आकार वाले और बार-बार ऊपर को उछलते हुए, व्याघ्र को देखकर वह वृक्ष पर चढ़ गया ॥३६-३७॥ ऊपर की ओर देखता हुआ नखों से पृथ्वी तल को खोदता हुआ जीवों को भय उत्पन्न करता हुआ वह व्याघ्र उस वृक्ष के नीचे आ गया ॥३८॥ व्याघ्र ने उस राजा को वृक्ष के ऊपर स्थित देखकर पूँछ से पृथ्वी ताड़ित कर क्रूर चेष्टापूर्वक गर्जन

व्याघ्रो नरेन्द्र-मालोक्यं, तं द्रुमस्योपरि स्थितम् । धरा-माहत्य पुच्छेन, जगर्ज क्रूर-चेष्टितः ।।३९।।
महीरुह-महाशाखां दृढं धृत्वा नृपात्मजः । भयवेपित-सर्वाङ्गः, स्थिरो धुन्वन् शिरस्तदा ।।४०।।
स्मरन्पञ्चनमस्[1]कारांस्ततोऽसौ मनुजोत्तमः । निशां निनाय कृच्छ्रेण तां वराङ्गोऽतिदुःखितः ।।४१।।
उदयाचल-मारुढे, विकासित-सरोरुहे । सूर्ये समागतो दन्ती तत्रैको दन्तिनीसखः ।।४२।।
कपोल-मद-लोलालि-नाद-पूरितदिङ्मुखं । अञ्जनाचल-सङ्काशं, मातङ्गं तुङ्गविग्रहम् ।।४३।।
दृष्टवा बुभुक्षितं व्याघ्र उत्पत्यायाति सन्मुखं । यावत्स तेन दन्ताभ्यां प्रोतश्चोरसि दन्तिना ।युग्मं । ।।४४।।
तथैवं चोद्धर्व-मुद्धृत्य निपात्यावनि-मण्डले । पादेन मर्दितस्तेन प्राप द्वीपी तदा मृतिम् ।।४५।।
राजा महीरुहारुढो, दृष्ट्वा करिपराक्रमम् । इति सञ्चिन्तयामास, विस्मय-व्याप्त-मानसः ।।४६।।
अत्यद्भुतं मया दृष्ट-मरण्ये वसताधुना । दन्तिना दलितो द्वीपी, विचित्रं विधिचेष्टितम् ।।४७।।
अथवा मम पुण्येन, विघ्नोऽयं विनिवारितः । मन्ये जिनेन्द्रपादाब्ज-स्मृति-रेवात्र कारणम् ।।४८।।
व्रतपञ्चनमस्कार-विद्याभेषज-संभवः । प्रभावोऽचिन्त्य एवासौ, यन्मे प्रत्यक्षतां गतः ।।४९।।
विचार्यैवं ततो राजा, गजे दूरं गते शनैः । महीरुहात्समुत्तीर्य, प्रतस्थेऽरण्य-वर्त्मना ।।५०।।

१. कारः ।

किया ।।३९।। तब भय से कंपित सर्वांग वाला वह राजकुमार वृक्ष की बड़ी शाखा को दृढ़तापूर्वक धारण/पकड़ कर शिर को धुनता हुआ/हिलाता हुआ स्थिर हुआ ।।४०।। इस नरोत्तम वरांग ने पंच नमस्कार मंत्र को स्मरण करते हुए अति दुःख पूर्वक कष्ट से उस रात्रि को व्यतीत किया ।।४१।। सूर्य के उदयाचल पर आरूढ़ होने, कमलों के खिलने और सूर्य के उदय होने पर वहाँ पर हथनी का सखा एक हाथी आया ।।४२।। वह गालों के मद जल से चंचल, भौरों की ध्वनि से पूरित दिशाओं के अग्रभाग वाले, अंजन-गिरि के समान श्याम वर्ण, ऊँचे शरीर वाले हाथी को देखकर, भूखा शेर जब तक उछल कर सामने आता है तब तक उस हाथी ने दाँतों के द्वारा उसके हृदय को चीर दिया और उसी तरह ऊपर उठाकर पृथ्वी तल पर फेंका तथा उसके द्वारा पैर से मर्दित हुआ, तब व्याघ्र मृत्यु को प्राप्त हो गया ।।४३-४४-४५।। हाथी के पराक्रम को देखकर विस्मय से व्याप्त मन वाले वृक्ष पर आरुढ़ राजा ने इस प्रकार विचार किया ।।४६।। हाथी के द्वारा शेर मारा गया इस समय जंगल में रहते हुए मेरे द्वारा यह आश्चर्यकारी बड़ी विचित्र कर्मों की लीला देखी गई ।।४७।। अथवा मेरे पुण्य ने यह विघ्न दूर किया है । इस विषय में यहाँ पर जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की स्मृति ही मुख्य कारण है, ऐसा मैं मानता हूँ ।।४८।। व्रत पंच नमस्कार रूपी विद्यामय औषध से उत्पन्न यह प्रभाव अचिन्त्य ही है । जो यह मेरी प्रत्यक्षता/समक्षता को प्राप्त हुआ है ।।४९।। इसके बाद इस प्रकार विचार कर राजा ने हाथी के दूर चले जाने पर, धीरे से नीचे उतर कर जंगल के मार्ग से प्रस्थान किया ।।५०।। सूर्य की किरणों से व्याप्त होने पर भूख प्यास से पीड़ित मार्ग में

दिवाकरकराकीर्णे, व्रजन्मार्गे तृषार्दितः । राजा बुभुक्षितोऽपश्यद्वारिपूर्णं सरोवरम् ।।५१।।
नानाविहंगमाकीर्ण-मनेकोत्पल-राजितम् । गतः सरो वराङ्गोऽसौ, द्रुमच्छायातिशीतलम् ।।५२।।
उपविश्य सरस्तीरे, क्षणं विश्रम्य सन्मतिः । प्रक्षाल्य पादौ पाणी च, वस्त्रपूतं जलं पपौ ।।५३।।
जलं पीत्वा क्षणं स्थित्वा, सर्वांगश्रम-हानये । प्रविश्य स सरो दोर्भ्यां, ततारागाध-वारिणि ।।५४।।
बहिर्निर्गन्तुकामस्य, स्नात्वा तत्र महीपतेः । जग्राह चरणं नक्रः, सरोज-वन-मध्यगः ।।५५।।
नक्रेण ग्रस्तपादोऽसौ कृतयत्नः सरोबहिः । यदा यातुं न शक्नोति, धीरो धर्मे मतिं दधौ ।।५६।।
उपसर्गविमुक्त्यन्तं निवृत्तिर्मेचतुर्विधे । भूयादद्य वराहरे, शरीरेऽपि तथैव च ।।५७।।
इदं मे निष्प्रतीकार-मायातं दुःकृतोदयात् । दुःखं ततो भवाम्यत्र, श्रुतध्यानपरायणः ।।५८।।
प्रसन्नवदनाम्भोजं, प्राणित्राणपरायणं । प्रकाशित-महातत्त्वं, प्रणमामि जिनेश्वरम् ।।५९।।
सुखिनो दुःखिनश्चापि, सङ्गमे शत्रु-मित्रयोः । सर्वदा शरणं मेऽस्तु, जिनपादाम्बुजद्वयम् ।।६०।।
तिर्यग्मानव-देवानां नारकाणां गतावपि । स्थितस्य मम सम्यक्त्वं, भूयात्सर्वभयापहम् ।।६१।।
सिद्धान्सुरीनुपाध्यायान्साधून्नौम्यह-मादरात् । इति सद्भावनोपेत-मद्राक्षीद्यक्षदेवता ।।६२।।

चलते हुए राजा ने जल से भरे हुए सरोवर को देखा ।।५१।। यह वरांग युवराज अनेक प्रकार के पक्षियों से व्याप्त और अनेक प्रकार कमलों से सुशोभित और वृक्षों की छाया से अत्यन्त शीतल सरोवर को गया ।।५२।। उस सुबुद्धि वरांग राजा ने क्षण भर सरोवर के किनारे पर बैठकर विश्राम किया और हाथ पैरों को धोकर वस्त्र से छने हुए जल को पिया ।।५३।। सम्पूर्ण शरीर के श्रम को दूर करने के लिए जल को पीकर क्षण भर कुछ रुककर वह राजा सरोवर में प्रवेश कर उसके अगाध जल मेंभुजाओं से तैरने लगा ।।५४।। उस सरोवर में स्नान कर बाहर निकलने के इच्छुक राजा के पैर को सरोवर के कमलों के बीच जाने वाले मगर ने पकड़ लिया ।।५५।। मगर से ग्रहण किये हुए पैर वाला यह वरांग जब सरोवर से बाहर निकलने का प्रयत्न करता है और जब नहीं निकल पाता है तो वह धैर्यशाली धर्म में बुद्धि को धारण करता है ।।५६।। आज से उपसर्ग की समाप्ति के अंत तक मेरे चारों प्रकार के श्रेष्ठ आहार में और उसी तरह शरीर में भी त्याग/विरक्ति है ।।५७।। पाप कर्म के उदय से यह मेरा प्रतिकार रहित दुःख आया है इसलिए मैं यहाँ श्रुत ध्यान में, धर्म ध्यान में परायण होता हूँ ।।५८।। प्रसन्नमुख कमल वाले, प्राणियों की रक्षा में तत्पर और महातत्त्व आत्मा को प्रकाशित करने वाले जिनेन्द्र भगवान को मैं वरांग प्रणाम करता हूँ ।।५९।। सुख और दुःख के समागम में शत्रु और मित्र में हमेशा मेरे लिए जिनेन्द्र भगवान के चरण कमल युगल शरण हो ।।६०।। तिर्यंच, मनुष्य, देव और नारकियों की गति में भी स्थित मुझे सभी भयों को नष्ट करने वाला सम्यग्दर्शन होवे ।।६१।। मैं सिद्धों को, आचार्यों को, उपाध्यायों को और साधुओं को आदर के साथ नमस्कार करता हूँ । इस प्रकार सद्भावना से सहित उस वरांग को यक्षदेवता ने देखा ।।६२।।

वराङ्गं दृढसम्यक्त्वं, मत्वासौ यक्षदेवता । तत्पादं मोचयामास ग्रहाद्धर्मानुरागतः ।।६३।।
नक्रमुक्तो महीपालो, विनिर्गत्य सरोबहिः । सविस्मयो जगादैवं, दृढव्रतपराक्रमः ।।६४।।
अहोऽर्हद्धर्म-माहात्म्यं, कासारे विजने वने । ग्रहोपसर्गमुक्तोऽस्मि, धर्मोऽतः शरणं मम ।।६५।।
जिनोक्ताचारसम्पन्नं ज्ञात्वा यक्षी दृढव्रतम् । तं परीक्षितुमायाता भूत्वा सा मनुजाङ्गना ।।६६।।
कण्ठ-विन्यस्त-हारा सा, पीनोन्नतपयोधरा। नानापुष्पावतंसा च, स्मितास्या नवयौवना ।।६७।।
स्थित्वा तस्य पुरो भागे, यक्षी सा वाच-मब्रवीत् । कस्त्वं कुतः समायातः, क्व वा यास्यसि मे वद ।।६८।।
विलोक्य तामसौ बालां, चेतस्येव-मचिन्तयत् । काचिन्मनुष्यविषयं, देवता वोरुगां (वामोरुतां) गता ।।६९।।
तां स पप्रच्छ भद्रे त्वं का किमर्थमिहागता । किं मां पृच्छसि निश्शङ्का वद त्वं तव चेष्टितम् ।।७०।।
सावोच-दपराधेन, विना तातेन चोज्झिता । आनीयास्मिन्महारण्ये, न जाने केन हेतुना ।।७१।।
तदा प्रभृत्यरण्येऽस्मिन् क्रूरसत्त्वसमाकुले । नानानोहुक-सङ्कीर्णे, चिरकालं स्थितास्म्यहम् ।।७२।।
भ्रमत्यद्य सरस्तीरे, सर्वायवयसुन्दरः । प्राग्जन्मार्जितपुण्येन, दृष्टस्त्वं पुरुषोत्तमः ।।७३।।
त्वं तत्त्वं शरणं त्वं मे, त्वमेव मम जीवितम् । त्वमङ्गीकुरु मां नाथ!, भर्ता मे भव साम्प्रतम् ।।७४।।
अद्य प्रभृति जातास्मि, तवाहं वशवर्तिनी । निश्चयाद्विद्धि मां देव! कुलीनां राजकन्यकाम् ।।७५।।

वरांग को दृढ़ सम्यग्दृष्टि मानकर धर्मानुराग से इस यक्षदेवता ने मगर से उसके पैर को छुड़ा दिया ।।६३।। मगर से छूटे हुए दृढ़व्रती व पराक्रम वाले राजा ने सरोवर से बाहर निकलकर विस्मय से सहित इस प्रकार कहा ।।६४।। अरहंत देव के धर्म का महात्म्य आश्चर्यकारी है मैं एकान्त वन के तलाब में मगर के उपसर्ग से मुक्त हुआ हूँ अतः मेरे लिए धर्म ही शरण है ।।६५।। उस वरांग राजा को जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए आचार से सम्पन्न और दृढ़व्रती जानकर वह यक्षी उसकी परीक्षा के लिए सुंदर मनुष्यनी बनकर आयी ।।६६।। वह यक्षी कण्ठ में पहना है हार जिसने, पुष्ट और उन्नत स्तनों वाली और अनेक पुष्पों के आभरणों को धारण करने वाली प्रसन्न मुख नव यौवनवती थी ।।६७।। उस वरांग के सम्मुख प्रदेश में स्थित होकर उस यक्षी ने इस प्रकार वचन को कहा तुम कौन हो कहाँ से आये हो, और कहाँ जाओगे मेरे लिए कहो ।।६८।। उस वरांग ने उस स्त्री को देखकर चित्त में इस प्रकार चिंतन किया कि किसी देवता ने मनुष्य को विषय करने वाला सुंदर स्त्री का रूप धारण किया है ।।६९।। उस वरांग ने उससे पूछा तुम कौन हो किसलिए यहाँ आई हो शंका रहित मुझसे क्या पूछती हो तुम अपनी चेष्टाओं को कहो ।।७०।। उस देवी ने कहा बिना अपराध के पिता ने मुझे छोड़ दिया और किस कारण से मैं इस महावन में आ गई हूँ, मैं नहीं जानती ।।७१।। क्रूर जीवों से भरे हुए नाना प्रकार के वृक्षों से व्याप्त इस महावन में तब से लेकर चिरकाल से मैं यहाँ पर स्थित हूँ ।।७२।। आज मैंने तालाब के किनारे पूर्व उपार्जित पुण्य के उदय से सर्वांग सुन्दर आप पुरुषोत्तम को भ्रमण करते हुए देखा ।।७३।। वह तुम मेरी वास्तविक शरण हो तुम ही मेरे जीवन हो, हे! नाथ तुम मुझे स्वीकार करो इस समय तुम मेरे पति होओ ।।७४।। हे देव! आज से लेकर मैं तुम्हारी आज्ञाकारणी होती हूँ मुझे निश्चय से कुलीन राजकन्या जानो

राजा तद्वाक्यमाकर्ण्य, बभाणेति च देवताम् । स्वयं दरिद्रो भद्रेऽन्यमीश्वरीकुरुतेऽत्र कः ॥७६॥
आपत्पद-मवाप्तेऽहं, कथं कल्याणि रक्षणं । कुर्वेतवाथवान्येषां भवामि शरणं कथम् ॥७७॥
परं स्वदार-सन्तोष-व्रतं श्रीजिनसाक्षिकं । गृहीतं च मया सम्यग्वरदत्तगणाधिपात् ॥७८॥
तदहं नैव मुञ्चामि प्राणैः कण्ठगतैरपि । इहामुत्र विरुद्धं यन्न कुर्वन्ति नरोत्तमाः ॥७९॥
निशम्य वचनं राज्ञः, सन्तोषादाह देवता । मायाकायमपास्यासौ स्वीकृत्य च निजाकृतिं ॥८०॥
वरदत्त-गणाधीशस्तवापि च गुरुर्मम । त्वं भ्राता मे ततस्त्वार्य! कृतं चित्तपरीक्षणम् ॥८१॥
वर्द्धते त्वद् गुणारामो, मदीयायां मनःक्षितौ। पुण्यप्रेमजलेनासौ सिच्यमानो निरन्तरम् ॥८२॥
चिन्तां त्वं मा कृथा भद्र! भद्रं सर्वं भविष्यति । लप्स्यसे सम्पदं राज्यं बन्धूनामपि सङ्गमम् ॥८३॥
सम्भाव्यैवं तिरोऽभूत्सा, देवी राजा व्रजस्ततः । ददर्श फलसम्पूर्णं, मार्गे पनस-भूरुहं ॥८४॥
त्रिदिनोपोषितस्यास्य पनसस्य फलेन च । गिरेर्निझरतीरे च, सञ्जाता पारणा प्रभोः ॥८५॥
तत्प्रदेशात्कियद् दूरं गतो यावत्किरातकैः । चेष्टितोऽसौ समभ्येत्य निष्ठुरालापतत्परैः ॥८६॥
नो विवाहं विवादं च नो मैत्रीमपि नो रणम् । कुर्वन्त्यल्पकुलोत्पन्नैरुच्चगोत्र-भवा नराः ॥८७॥
सत्यामपि ततः शक्तौ, न युक्तं क्षत्रियस्य मे । युद्धं कर्तुमरण्येऽस्मिन्समं हीन-वने चरैः ॥८८॥

॥७५॥ राजा ने उसके वचन सुनकर उस देवी को इस प्रकार कहा—हे भद्रे! यहाँ पर जो स्वयं दरिद्र है वह दूसरे को धनवान कैसे कर सकता है ॥७६॥ हे कल्याणी! आपत्ति के स्थान को प्राप्त मैं तुम्हारी अथवा अन्य की रक्षा कैसे कर सकता हूँ और शरण कैसे हो सकता हूँ ॥७७॥ और मेरे द्वारा वरदत्त गणधर से जिनेन्द्र भगवान की साक्षीपूर्वक उत्कृष्ट स्वदार संतोषव्रत को अच्छी तरह से ग्रहण किया गया है ॥७८॥ इसलिए मैं उसको प्राणों के कण्ठगत होने पर भी नहीं छोड़ूँगा। क्योंकि उत्तम पुरुष जो इस लोक और परलोक में विरुद्ध हैं उस कार्य को नहीं करते ॥७९॥ राजा के वचनों को सुनकर इस देवी ने मायामयी शरीर को छोड़कर और अपनी वास्तविक आकृति को स्वीकार कर संतोष से इस प्रकार कहा ॥८०॥ वरदत्त गणधर तुम्हारे और मेरे भी गुरु हैं हे आर्यवर! इसलिए तुम मेरे भाई हो मैंने तुम्हारे चित्त की परीक्षा की थी ॥८१॥ तुम्हारा गुण रूपी बगीचा मेरी मन रूपी पृथ्वी पर बढ़ रहा है यह पुण्य प्रेम रूपी जल से निरन्तर सींचा जा रहा है ॥८२॥ हे भद्र! तुम चिंता मत करो सभी कल्याणमय होगा तुम राज्य-संपदा को और बंधुओं के समागम को प्राप्त करोगे ॥८३॥ इस प्रकार कहकर वह देवी अदृश्य हो गई और राजा ने वहाँ से चल दिया, मार्ग में फल से लदे हुए पनस के वृक्ष को देखा ॥८४॥ तीन दिन के उपवास वाले इस वरांग राजा की पनस के फल से और पर्वत के झरने के किनारे पारणा हुई ॥८५॥ जब तक वह उस प्रदेश से कुछ दूर गया तब तक कठोर वचन बोलने में तत्पर भीलों के द्वारा की गई चेष्टा से इनको नीच कुल में उत्पन्न जानकर उन मनुष्यों से उच्च कुल में उत्पन्न मनुष्य, न विवाह करते हैं, न विवाद करते हैं न मैत्री करते न युद्ध करते हैं ॥८६-८७॥ इस कारण से शक्ति होने पर भी मुझ क्षत्रिय के लिए इस जंगल में हीन कुल मेंउत्पन्न दीन हीन भीलों से युद्ध करना ठीक नहीं है ॥८८॥ मैं जिस पुण्य कर्म के

नक्रव्याघ्र-भयाद्येन, रक्षितोऽहं सुकर्मणा । तद्रक्षतु किरातेभ्यो, दधौ मौनमिति स्मरन् ॥८९॥
अनुकम्पाविहीनास्ते, किराताः क्रूरबद्धयः । ताडयतश्चपेटाद्यैर्बबन्धुः पृथिवीपतिम् ॥९०॥
राजहंसं विनिन्युस्ते कुसुम्भस्य निजप्रभोः । समीपं शबरा कारागारे क्षिप्त-मनेन च ॥९१॥
चर्मास्थि-पूत-दुर्गन्धि, मक्षिका-मशकाकुले । स्मरन्संसारवैचित्र्यं, तत्र रात्रिं निनाय सः ॥९२॥
दानभोगान्तरायादिदुस्कृतं यन्मया कृतम् । पूर्वजन्मनि तस्यैतत्फलं प्राप्तमहोऽधुना ॥९३॥
पारमेकस्य दुःखस्य, यावन्नो यामि कर्मणा । तावत्पुरातनेनेतद् द्वितीय-मनुबध्यते ॥९४॥
शत्रुर्न विद्यते कोऽपि, मित्रं वा भुवि देहिनां । निमित्तमात्रं कर्म, तेनान्यत्प्रेरितं भवेत् ॥९५॥
एवं चिन्तयतस्तस्य, शुभध्यानपरस्य च । व्रतसम्यक्त्वधीरस्य, विभाता सा विभाबरी ॥९६॥
प्रभाते शबरेशोऽसौ, गृहीत्वा देवतालयं । आजगाम बलिं दातुं, देवताय नृपात्मजं ॥९७॥
तदा तत्र महारण्ये, भ्रमन्तं मृगयेप्सया । पादे ददंश कौसुम्भि, भुजङ्गो भीषणाकृतिः ॥९८॥
भूमौ पपात कौसुभिः, क्षणात्तद्विषमूर्च्छितः । तं कुसुम्भान्तिकं निन्युः, समुद्धृत्य च बान्धवाः ॥९९॥
दृष्ट्वा पुत्रं गतप्राणं, हाहारावाकुलाननः । पप्रच्छैवं कुसुम्भोऽपि नृपं बन्धनपीडितं ॥१००॥
विषापहरणं वत्स, पृष्ठो वेत्सि न वामुना । साधु वेद्मीति भिल्लेश, निश्शङ्को भूपतिर्जगौ ॥१०१॥

उदय से मगर और व्याघ्र के भय से रक्षित हुआ हूँ वही मेरी भीलों से रक्षा करेगा, इस प्रकार स्मरण करते हुए मौन को धारण किया ॥८९॥ दया से हीन क्रोधित बुद्धि वाले उन भीलों ने राजा को थप्पड़ आदि से प्रताड़ित कर बांध लिया ॥९०॥ उस राजहंस राजाओं में श्रेष्ठ वरांग को वे भील लोग, अपने स्वामी कुसुम्भ के पास ले गये और उसने उसे कारागार में डाल दिया ॥९१॥ वहाँ पर उस वरांग ने चमड़ा हड्डी दुर्गंध युक्त मक्खी और मच्छरों से व्याप्त उस कारागार में संसार की विचित्रता का स्मरण करते हुए रात्रि को व्यतीत किया ॥९२॥ ओह पूर्व जन्म में मेरे द्वारा किये हुए जो दानान्तराय और भोगान्तराय पाप कर्म किए उनका यह फल मुझे आज प्राप्त हो रहा है ॥९३॥ जब तक मैं एक दुःख दायी कर्म से पार को प्राप्त नहीं होता तब तक पुराना यह दूसरा पाप कर्म का संयोग प्राप्त हो जाता है ॥९४॥ पृथिवी पर प्राणियों के वास्तव में न कोई भी शत्रु है और न कोई मित्र है, कर्म तो निमित्त मात्र है, उसमें अन्य प्रेरित/प्रभावित होते हैं ॥९५॥ इस प्रकार चिंतन करने वाले उस शुभ ध्यान में तत्पर व्रत सम्यक्त्व में धीर उस वरांग के वह रात्रि व्यतीत हुई ॥९६॥ प्रभात में यह भीलराज; राजपुत्र को पकड़ कर देवता को बलि देने के लिए देवालय आ गया। उस समय उस महावन में शिकार की इच्छा से घूमते हुए कौसुंभि के पैर को भीषण आकृति वाले सर्प ने डस लिया, कौसुंभि उसके विष से मूर्च्छित हो क्षण भर में पृथ्वी पर गिर गया और बंधुजन कौसुंभि को उठाकर कुसुम्भ के पास ले गये ॥९७,९८,९९॥ पुत्र को प्राण रहित देखकर हाहाकार के शब्द से व्याप्त मुख वाले कुसुंभ ने भी बंधन से दुखी नृप को इस प्रकार पूछा ॥१००॥ हे वत्स! तुम विष को दूर करना जानते हो अथवा नहीं, ऐसा भीलराज ने पूछा निशंक राजा वरांग ने कहा हे भिल्लेश! मैं अच्छी तरह जानता हूँ ॥१०१॥ इसके बाद उस वरांग के वचन को सुनकर संतुष्ट भील उस

ततस्तद्वचनं श्रुत्वा, तुष्टो मोचयति स्म तं । अब्रवीच्च कृपां कृत्वा, पुत्र भिक्षां प्रयच्छ मे ।।१०२।।
ततः शुद्धाम्भसि स्नात्वा, क्षालिताम्बरभूषितः । नृपस्तं मन्त्रसामर्थ्यान्निर्विषीकर्तुमाप्तवान् ।।१०३।।
जलैः पञ्चनमस्कार मन्त्रितैर्मस्तके स तं। सिषेच तत्क्षणात्सोऽपि निर्विषोभूत्किरातकः ।।१०४।।
यथा यथाभिषिक्तोऽसौ, मूर्ध्नि मन्त्रितवारिणा । राज्ञा सर्पविषेणासौ, विनिर्मुक्तस्तथा तथा ।।१०५।।
ततस्तं विषनिर्मुक्तं, वदन्तं च वनेचराः । विलोक्येति वराङ्गस्य, प्रशंसां चक्रिरेऽखिलाः ।।१०६।।
अहो धैर्यस्य माहात्म्यमहो तत्र प्रसन्नता । अतः परं पिता त्वं नोऽस्मद्वंशो रक्षितस्त्वया ।।१०७।।
गृहाण वररत्नानि, काञ्चनाभरणानि च । अम्बराणि विचित्राणि भोजनं च कुरूचितम् ।।१०८।।
अपराधः कृतोऽस्माभिर्ज्ञानहीनैर्वनेचरैः । इत्युक्तस्त्वं क्षमस्वेति वराङ्गोप्यवदत्कृती ।।१०९।।
भवतां नापराधोऽत्र, दोषोऽस्ति मम कर्मणः । अलं मे रत्नहेमादिदानैः श्रुणु कुसुम्भक! ।।११०।।
स्वदेशगामिनं मार्गं दर्शयाहमविघ्नतः । येन यामि पुलिन्देश! त्वं च नित्यं सुखी भव ।।१११।।
कुसुम्भादेशितैः पुम्भिर्गतो दूरं महीपतिः । सूर्यास्त-समये धीमानारुरोह महीरुहम् ।।११२।।
धृत्वा तस्य महाशाखा-मुपविश्येत्यचिन्तयत् । सुखदुःख-विधौ पुंसां, विविधं विधि-चेष्टितम् ।।११३।।
क्व तादृग्राज्यसम्प्राप्तिर्वाजिना हरणं पुनः । व्याघ्र-नक्र-किराताद्यैः, क्वोपसर्गो ममेदृशः ।।११४।।

वराग को मुक्त कर देता है और कहता है, कृपा करके मुझे पुत्र की भिक्षा को प्रदान करो अर्थात् मेरे पुत्र को विष रहित करो ।।१०२।। इसके बाद शुद्ध जल में स्नान कर धुले हुए कपड़ों को पहनकर वरांग राजा कौसुंभि को मंत्र की सामर्थ से निर्विष करने के लिए प्राप्त हुआ/आया ।।१०३।। तब उस वरांग राजा ने पंच नमस्कार मंत्र से मंत्रित जल के द्वारा उस कौसुंभि को सींचा, उसी क्षण वह भील भी विष रहित हो गया ।।१०४।। जैसे-जैसे राजा के द्वारा यह मंत्रित जल शिर पर सींचा गया, वैसे-वैसे वह भील पुत्र सांप के विष से रहित हो गया ।।१०५।। इसके बाद उसको विष से रहित और बोलते हुए देखकर सभी भीलों ने उस वरांग राजा की इस प्रकार प्रशंसा की, ओह! आपके धैर्य का महात्म्य और उसमें प्रसन्नता इसलिए तुम हम लोगों के परम पिता हो, तुम्हारे द्वारा हमारे वंश की रक्षा हुई है । श्रेष्ठ रत्नों को, स्वर्ण के आभूषणों को और नाना प्रकार के वस्त्रों को और योग्य भोजन को करिए ।।१०६,१०७,१०८।। ज्ञान से रहित हम भीलों के द्वारा जो अपराध किया गया इसलिए वह तुम क्षमा करो, ऐसा उन्होंने कहा और पुण्यशाली वरांग ने भी इस प्रकार कहा ।।१०९।। इस विषय में आप लोगों का अपराध नहीं है मेरे कर्मों का दोष है । हे कुसुंभक! सुनो रत्न, स्वर्ण आदि का दान मेरे लिए रहने दो ।।११०।। हे भीलराज! मुझे विघ्न रहित अपने देश को जाने का मार्ग दिखाओं, जिससे मैं अपने देश को जा सकूं, और तुम हमेशा सुखी होओ ।।१११।। कुसुंभ के द्वारा आदेशित पुरुषों के साथ राजा दूर चला गया सूर्यास्त के समय वह बुद्धिमान पेड़ पर चढ़ गया ।।११२।। उस वृक्ष की महाशाखा को धारण कर और बैठ कर इस प्रकार चिंतन करने लगा। पुरुषों के सुख-दुःख की विधि में कर्मों की चेष्टा अनेक प्रकार की है ।।११३।। मेरे इस प्रकार के उस तरह के राज्य की भली प्रकार प्राप्ति कहाँ, घोड़े के द्वारा हरा जाना कहाँ, व्याघ्र मगर

तेषामेवोपसर्गाणां, निवारणमयत्नतः । जातं धर्मप्रभावेण, नान्यदत्रास्ति कारणम् ॥११५॥
एकाकी रक्षितो येन, दैवेनापायसञ्चयात् । सहायतां समभ्येतुं, तद्भाविसुखदुःखयोः ॥११६॥
एवं चिन्तयतस्तस्य, निशा नाशमुपागता । जाते सूर्योदये वृक्षा-दुत्तीर्य स चचाल च ॥११७॥
व्रजन्नग्रे निरुद्धोऽसौ, सार्थवाहस्य सेवकैः । उपेत्य कर्कशालापैर्दयादाक्षिण्यवर्जितैः ॥११८॥
क्व यास्यसि त्वमायातः कुतो वा कस्य भूपतेः । चरो विलोक्यसे किं वा भद्रं वाञ्छसि चेद्यदि ॥११९॥
इत्याक्षिप्ते नरैः सार्थपतेर्दध्याविति प्रभुः । सत्यामपि महाशक्तौ, समयान्वित-कोविदः ॥१२०॥युगलं॥
हन्तुं योग्या न गोपाला, वराकाः क्षत्रियस्य मे । जनयत्येव न श्लाघ्यं, कृतोऽप्यत्र पराक्रमः ॥१२१॥
हयव्याघ्र-जलग्राह-किरातेभ्यो भया-दहं । रक्षितः कर्मणा येन, तदेवास्त्वत्र पूर्ववत् ॥१२२॥
अतः कुर्वन्तु गोपाला, वाञ्छां निजमनोगताम् । मयि ध्यात्वेति भूपालो, दधौ मौनं प्रसन्नधीः ॥१२३॥
तस्मिंस्तूष्णीं स्थिते राज्ञि, सार्थवाहन-राजयः । परस्परं न दण्डार्हो, नरोऽयं सुषमाकृतिः ॥१२४॥
अमुं वणिक्पतेः पार्श्वं, नयामः शुभलक्षणम् । गुणागुणविचारज्ञः, स करोतु यथोचितम् ॥१२५॥

और भीलों द्वारा क्रोध पूर्वक उपसर्ग कहाँ ॥११४॥ उन उपसर्गों का बिना प्रयत्न के निवारण हुआ, इसमें धर्म के प्रभाव के अलावा अन्य दूसरा कारण नहीं हैं ॥११५॥ उस भविष्य में होने वाले सुख-दुःख में सहायता को प्राप्त करने के लिए जिस भाग्य द्वारा मैं कष्टों के समूह से (उस जिनधर्म द्वारा) अकेला ही संरक्षित हुआ हूँ ॥११६॥ इस प्रकार चिन्तन करने वाले उस वरांग के रात्रि समाप्ति को प्राप्त हुई और सूर्य के उदय होने पर वह वृक्ष से उतर कर चल दिया ॥११७॥ आगे जाता हुआ यह वरांग राजा कठोर वचनों के द्वारा दया-दाक्षिण्य (सरलता) से रहित व्यापारी सेठ के सेवकों द्वारा पास में जाकर रोका गया ॥११८॥ यदि कल्याण चाहते हो तो तुम कहाँ से आये हो, कहाँ जाओगे अथवा किस राजा के सेवक हो, और क्या देख रहे हो ॥११९॥ इस प्रकार वणिक्पति के मनुष्यों द्वारा पूछा गया, महाशक्ति से सम्पन्न होने पर भी, समय/शास्त्रों के प्रकरण/प्रक्रम का ज्ञाता वह विद्वान राजा उनके द्वारा धारण किया गया अर्थात् पकड़ लिया गया ॥१२०॥ मुझ क्षत्रिय के द्वारा विचारे गोपाल मारने योग्य नहीं हैं, लोक में क्षुद्र पुरुषों के विषय में किया गया पराक्रम प्रशंसा को उत्पन्न नहीं करता ॥१२१॥ घोड़ा, शेर, मगरमच्छ और भीलों के भय से मैं जिस कर्म के द्वारा सुरक्षित रहा पहले के समान वह पुण्यकर्म ही मेरा यहाँ पर भी रक्षक हो ॥१२२॥ इसलिए मेरे विषय में, अपने मन में स्थित वांछा को ये गोपाल करें, ऐसा विचार कर प्रसन्न बुद्धि वाले राजा ने मौन धारण किया ॥१२३॥ उस वरांग राजा के मौन में स्थित होने पर, व्यापारियों/सेठों के समूह ने आपस में विचार किया कि यह सुन्दर आकृति वाला मनुष्य दण्ड के योग्य नहीं हैं ॥१२४॥ इस शुभ लक्षण वाले मनुष्य को हम वणिक्पति के पास ले जाते हैं। वह गुण और अवगुणों के विचार को जानने वाला यथायोग्य कार्य करे ॥१२५॥ वे मनुष्य उस राजा को सागर वृद्धि सेठ के पास ले गये। उस

ते तं सागरवृद्धेस्तु, समीपं निन्यिरे नराः । विलोक्य सोऽपि भूपालं, जगादेति विचक्षणः ।।१२६।।
सामान्य-मानवो नायं, नृपमन्त्री नृपोऽथवा । नान्येषा-मीदृशं देहे, प्रशस्तं राज-लक्षणम् ।।१२७।।
विद्याधरोऽमरो वा मां, विडम्बयितु-मागतः । साक्षात्प्रकटयत्येष प्रीतिं वा पूर्वजन्मनः ।।१२८।।
अज्ञानिभिर्नरैर्मेऽयं, कथं निर्बन्धितो नरः । सामर्थ्यालङ्कृतोप्येष, कथं वा मौनमाश्रितः ।।१२९।।
अनया चिन्तयालं प्राक्करोम्यतिथिपूजनम् । स्नेह-सम्भाषणं पश्चात्क्रम एष सनातनः ।।१३०।।
विचिन्त्येति वणिग्नाथस्तं प्रशान्तयितुं नृपं । उवाच मधुरां वाचं, कृपाम्भःपूर्णमानसः ।।१३१।।
विवेकविकलैर्भद्र!, योऽपराधः कृतस्त्वयि । मत्सेवकैः क्षमस्वेति, ययाचे तं वणिक्पतिः ।।१३२।।
उत्तिष्ठ त्वं कुरु स्नानं, भोजनं च यथेप्सितं । इत्युक्त्वा तद्विधौ भृत्यान्प्रेरयामास सार्थपः ।।१३३।।
करं करेण सङ्गृह्य, स्वयं चास्य वणिक्पतिः । आनिनाय निजावास-मुपकार-परायणः ।।१३४।।
तं संस्नाप्य वराङ्गं च, भोजयामास सार्थपः । ताम्बूलोत्तम-वस्त्राणि, दत्वोवाचेति भूपतिं ।।१३५।।
ब्रूहि मित्र मया किं ते विधातव्यमतः परं । सार्थेश! तव सार्थेना, गमिष्यामीति सोऽब्रवीत् ।।१३६।।
एवमस्त्विति सम्भाष्य, वत्स! तिष्ठ यथासुखं । श्रेष्ठी सागरवृद्धयाह्वश्चिन्तयस्तद्गुणान्स्थितः ।।१३७।।

विद्वान सेठ ने भी राजा को देखकर इस प्रकार कहा ।।१२६।। यह सामान्य मनुष्य नहीं है । राज्य मंत्री है अथवा राजा है, अन्य के शरीर में इस प्रकार प्रशस्त राज लक्षण नहीं होते ।।१२७।। यह विद्याधर है अथवा देव है मुझे भ्रमित करने के लिए आयाहै यह साक्षात् पूर्व जन्म की प्रीति को प्रकट कर रहा है ।।१२८।। यह मनुष्य मेरे अज्ञानी मनुष्यों द्वारा कैसे बांधा गया, यह सामर्थ्य से सहित होने पर भी कैसे मौन को धारण किये हुए है ।।१२९।। इस चिन्ता से विश्राम हो, पहले अतिथि सत्कार करता हूँ । बाद में स्नेह सम्भाषण को करूँगा यह सनातन क्रम है ।।१३०।। कृपा रूपी जल से भरे मन वाले सेठ ने इस प्रकार विचार कर उस राजा की प्रशंसा करने के लिए मधुर वचनों को कहा ।।१३१।। हे भद्र! विवेक से रहित मेरे सेवकों के द्वारा तुम्हारे प्रति जो अपराध किया गया है, उसको क्षमा करें । वणिक् पति ने वरांग राजा से इस तरह याचना/प्रार्थना की ।।१३२।। तुम उठो, स्नान करो और इच्छानुसार भोजन करो ऐसा कहकर वणिक्पति ने उसकी विधि अर्थात् परिचर्या में सेवकों को प्रेरित किया ।।१३३।। और उपकार करने में चतुर वणिक्पति स्वयं इसके हाथ को अपने हाथ से ग्रहण कर अपने निवास पर ले आया ।।१३४।। वणिक्पति ने उस वरांग को स्नान कराके श्रेष्ठ अन्न का भोजन कराया, पान एवं उत्तम वस्त्रों को देकर राजा को इस प्रकार कहा ।।१३५।। हे मित्र! कहो, मेरे द्वारा इसके बाद तुम्हारे प्रति क्या करना चाहिए । उस राजा ने कहा हे सार्थेश तुम्हारे सार्थ/समूह के साथ जाऊँगा ।।१३६।। हे वत्स! ऐसा ही हो अपने सुख के अनुसार रहो, इस प्रकार कहकर सागरवृद्धि नामक सेठ उसके गुणों का चिंतन करता हुआ स्थित रहा ।।१३७।। जो धर्मसेन राजा का पुत्र युवराज पद पर स्थित था और इच्छानुरूप सिद्धि को

युव-नृपति-पदस्थो, धर्मसेनात्मजो यः । समभिलषितसिद्धिं, प्राप्य लोकान् शशास ।।
इह च विधिवियोगाद्राज्यनाशं समाप्य । प्रबल-बहुल-दुःखश्चाश्रितः सार्थवाहम् ।।१३८।।
व्रजति न पुरुषाणा-मेकयावस्थया वा । समय इति विदग्धाः कीर्तयन्तीह लोके ।।
भुवनतल-मशेषं, द्योतते शीतरश्मिः । स च समयवशेन, क्षीयते वर्द्धते च ।।१३९।।

इति श्रीपरवादिदन्तिपञ्चाननश्रीवर्द्धमानदेवभट्टारक-कवि-विरचिते वराङ्गस्थापनसागरवृद्धिदर्शनो नाम पञ्चमः सर्गः ।।

प्राप्त कर लोगों पर राज्य करता था और यहाँ कर्म के योग से नाश को प्राप्त कर भारी दुखसे सेठ के आश्रय को प्राप्त हुआ ।।१३८।। इसलोक में पुरुषों का समय एक अवस्था रूप से व्यतीत नहीं होता ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। चन्द्रमा सम्पूर्ण पृथ्वी तल को प्रकाशित करता है, और वही समय के वश से घटता और बढ़ता है ।।१३९।।

इस प्रकार परवादी रूपी हाथी के लिए सिंह स्वरूप श्री वर्धमान भट्टारक देव विरचित वरांग चरित्र में वरांग का स्थापन और सागरवृद्धि सेठ का दर्शन नामक पाँचवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

—00000—

षष्ठः सर्गः

ततस्तु सार्थाधिपतिर्वणिग्भिः , सहोपविश्य प्रकटां कथां च।
जिनेन्द्र-चक्राधिप-वासुदेव-प्रतिप्रभूणां वितनोति यावत् ।।१।।
यावच्च तौर्यत्रिक-कोविदानां श्रृणोति गीतानि मनोहराणि।
तावच्च बिम्बामुखरानना द्राक् , दिग्रक्षका एत्य जगुस्तमित्थम् ।।२।।
द्विषट् सहस्त्रैस्तु किरातकानां, कालो महाकाल इति प्रसिद्धौ।
आजग्मतुः सार्थपते! प्रचण्डा-वत्रोचितं तत्प्रविधेहि सद्यः ।।३।।
तेषां वचः सार्थपतिर्निशम्य, युद्धाय सन्नह्यत शीघ्रमेव।
शशास भृत्यानिति तेऽपि सर्वे, समं वाणिग्भिः समरार्थमीयुः ।।४।।
वणिग्भटास्तोमरकुन्तखड्ग, - त्रिशूलहस्ता धृतमुद्गराश्च।
गदायुधाः खेटक-पाणयश्च प्रचण्ड-कोदण्डधरा निरीयुः ।।५।।
वनेचराणां वणिजां ध्वजिन्योः, सङ्घट्ट-काले समरोन्मुखानां।
श्रृङ्गाणि ढक्काः पणवाश्च भेर्यः, प्रवाद्यमानानि तरां विरेजुः ।।६।।
अवार्यवीर्यौ स्फुर-दुग्र-कोपौ, कालो महाकाल इमौ वाणिग्भिः।
योद्धुं प्रवृत्तौ विविधायुधौघ,-प्रपात-संरक्षण-लक्ष्यदक्षौ ।।७।।
केचिद् रिपूणामतितीक्ष्ण-बाणैर्विद्धा व्यमुञ्चन्रुधिरप्रवाहान्।
युद्धाङ्गणे गैरिक-धातु, मिश्राञ्जलप्रवाहानिव पर्वतौघाः ।।८।।

उसके बाद जब तक युवराज वरांग सार्थप स्वामी सेठ के साथ बैठकर तीर्थंकर चक्रवर्ती वासुदेव, प्रतिवासुदेवों की प्रसिद्ध कथा का विस्तार करता है, और जब तक गीत संगीत और नृत्य को जानने वाले विद्वानों के मनोहर गीतों को सुनता है । तब तक बिम्बा फल के समान वाचाल मुख वाले दिशाओं के रक्षकों ने शीघ्र आकर उस सेठ को इस प्रकार कहा ।।१,२।। हे वणिक् पते! बारह हजार मीलों के साथ प्रचण्ड काल महांकाल इस प्रकार प्रसिद्ध भीलराज यहाँ आ रहे हैं । इस समय जो करना योग्य है सो वह शीघ्र करो ।।३।। सार्थपति उन रक्षकों के वचनों को सुनकर शीघ्र ही युद्ध के लिए तैयार हो गया। सेवकों को आज्ञा दी, इस प्रकार वे भी सभी सेठों के साथ युद्ध के लिए चले ।।४।। सेठ के योद्धा, तोमर, भाला, तलवार, त्रिशूल से युक्त हाथों वाले, धारण किया हैं मुद्गर और गदा आयुध को जिन्होंने, खेटक है हाथ में जिनके और प्रचण्ड धनुष को धारण करने वाले सैनिक युद्ध के लिए निकले ।।५।। युद्ध के लिए तैयार भीलों की और व्यापारियों की सेना के संघट्ट/मिलने के काल में ढक्का, पणव, भेरियाँ, शृंग बजते हुये अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे ।।६।। अनेक प्रकार के आयुधों के समूह के गिरने से संरक्षण के लक्ष्य मेंचतुर प्रचंड शक्ति वाले, प्रचुर तीव्र क्रोध वाले काल, महाकाल ये दोनों व्यापारियों से युद्ध करने के लिए प्रवृत्त हुए ।।७।। कोई शूरवीर नर युद्धरूपी आँगन में शत्रुओं के तीक्ष्ण बाणोंसे बिंध गया था और रुधिर

आरक्त-वाणव्रणभूषिताङ्गाः, केचिद्बभुः शूरतरा नराश्च।
यथा वसन्तागम-लब्ध-पुष्प-ब्रह्मद्रुमालोक-कृतप्रशंसाः ॥०९॥
प्रचण्ड-दोर्दण्ड-बलावकृष्ट, - कोदण्ड-निर्मुक्तशरान्किरातैः।
सखेटकै-रर्ध-शशाङ्क-बाणै,-रुत्सारयन्तिस्म वणिग्भटास्ते ॥१०॥
व्यूहद्वये क्रोधमहोद्धतानां, अन्योन्यघातप्रतिघातभाजां।
रणोर्वराया-मिह तद्भटानां खड्गाग्रलूनानि शिरांसि पेतुः ॥११॥
केचिद्गदाचूर्णितसर्वगात्राः खड्गाग्रभिन्नावयवाश्च केचित्।
वाणाहताः प्राप्य परां च मूर्छां नराश्च केचित्पतिता रणोर्व्याम् ॥१२॥
क्व यासि रे तिष्ठ ममाग्रतस्त्वं, मुक्त्वा विभुं सङ्गर-सङ्कटेऽस्मिन्।
इत्येव-मुक्त्वाभिमुखं गतं तं, जघान खड्गेन च मूर्ध्नि वीरः ॥१३॥
खड्गाग्रलूने पतिते पृथिव्यां, भटोत्तमाङ्गे परिधावति स्म।
उद्यम्य संस्कार-वशेन खड्गं, नृत्यत्कबन्धं भयदं जनानाम् ॥१४॥
प्रत्युद्गतं वीक्ष्य रिपुं च कश्चिज्जगाद किं तिष्ठसि मत्पुरस्तात्।
वृथा कथं वा म्रियसे वद त्वं, [1]जीवन्प्रपश्येः खलु मङ्गलानि ॥१५॥
व्यतीत-हस्तायुध-वीरवर्यौ, मुष्टिप्रहारैः प्रविधाय युद्धं।

१. जीवन्यतः पश्यसि।

के प्रवाह को छोड़ता हुआ गेरु धातु से मिले हुए जल के प्रवाहों को छोड़ता हुआ मानों पर्वतों का समूह हो ॥८॥ और कोई शूरवीर पुरुष लाल हुए बाण के घाव से भूषित शरीर वाले हुए थे जैसे बसंत के आगमन से प्राप्त हुए लाल फूलों वाला पलाश का वृक्ष लोगों के द्वारा की गयी प्रशंसा वाला होता है ॥९॥ शिकारी भीलों के द्वारा प्रचंड भुजाओंके बल से खीचे गए धनुष से छोड़े गये बाणों को वे व्यापारियों के सैनिक अर्ध चन्द्र बाणों के द्वारा हटा रहे थे ॥१०॥ यहाँ युद्ध भूमि मेंदोनों समुदाय में क्रोध से महाउद्धत परस्पर मेंघात प्रतिघात को प्राप्त उन सैनिकों के तलवारोंके अग्रभागों से कटे हुए शिर गिर रहे थे ॥११॥ कोई गदा से चूर चूर किए गए सर्वांग शरीर वाले कोई तलवार से भिन्न/कटे हुए अवयव वाले, कोई बाण से घायल अत्यधिक मूर्च्छा को प्राप्त मनुष्य रणभूमि में पड़े थे ॥१२॥ स्वामी को इस युद्ध के संकट में छोड़कर अरे तूँ मेरी ओर से कहाँ जा रहा है ठहर। कोई वीर इस प्रकार कहकर उस योद्धा के पास गया और खड्ग से उसके शिर पर वार प्रहार किया ॥१३॥ खड्ग के अग्र भाग से कटे हुए पृथ्वी पर पड़े भटों के शिर पर संस्कार के वश से तलवार को उठाये हुए मनुष्यों को भय उत्पन्न करने वाला धड़ नाच रहा था ॥१४॥ सामने आये हुए शत्रु को देखकर कोई कह रहा था कि तुम मेरे सामने क्यों ठहरे हो अथवा कहो व्यर्थ ही तुम क्यों मरते हो जीवित रहते हुए नियम से कल्याणों को देखो ॥१५॥ गिर गए हैं हाथ से आयुध जिनके ऐसे कोई वीर श्रेष्ठ, मुट्ठी के प्रहारोंसे युद्ध को करके परस्पर में केशोंके ग्रहण

अन्योन्य-केशग्रहणात्[1]सरोषौ, दष्टाधरौ तौ पतितौ मृतौ च ।।१६।।
वणिग्भटानां च किरातकानां सैन्यद्वयेऽभूत्समयुद्धमेवं।
चिरं ततः कालमहादिकालौ संनह्य युद्धाय समुत्थितौ द्वौ ।।१७।।
धनुर्विमुक्तै-रति-तीक्ष्णबाणैः, प्रच्छादयन्तौ गगनं समन्तात्।
महानृशंसौ पर-वित्त-लुब्धौ, योद्धुं प्रवृत्तौ समकाल-मेव ।।१८।।
अत्युत्कटौ तौ बहुभिः पुलिन्दैः, महोद्धतौ युद्धमुखे विलोक्य।
वणिग्भटा भीति-मवाप्य केचित्, पलायनं चक्रु-रितस्ततोऽपि ।।१९।।विशेषकं।।
केचित्पुनः प्रस्खलिताङ्घ्रिहस्तास्तस्थुर्नराश्चित्रगता इवान्ये।
भङ्गो मुखं वीक्ष्य निजं च सैन्यं, चिन्तामिमां सागरवृद्धिराप ।।२०।।
दक्षा वयं न्यायधनार्जनेषु, न चाहवेऽस्मिन्शबराधिपानाम्।
अमी च निःकारणवैरिणोऽस्मान्सन्तायन्त्येव किमत्र कुर्मः ।।२१।।
त्राता नरो नास्ति ममात्र किंवा, वीरैर्विमुक्तं जगदेतदासीत्।
इति ब्रुवन्तं स समीपवर्ती, वराङ्गराजोऽपि बभाण वैश्यम् ।।२२।।
खेदं वृथा मा कुरु सार्थनाथ! त्वं पश्य किंचिन्मम चेष्टितं च।
उक्त्वेति युद्धार्थ-मसौ चचाल, सन्नाह-हीनोच्छ्वसिताखिलाङ्गः ।।२३।।
कथं वराका वणिजां किराताः, समापयन्त्यायु-रशेष-मेते।

१. —सरोषं।

करने से क्रोध सहित डसे हैंऔठों को जिन्होंने ऐसे वे दोनों गिरे और मर गए ।।१६।। वणिक् भटों का और भीलों का दोनों सेनाओं में इस प्रकार चिरकाल तक समान युद्ध हुआ। इसके बाद काल और महाकाल दोनों युद्ध के लिए तैयार होकर उपस्थित हुये ।।१७।। बहुत भीलों के साथ धनुष से छोड़े गए अति तीक्ष्ण बाणों द्वारा सब ओर से आकाश को ढकते हुए, अत्यंत निर्दय परधनचोर महा उद्धत उन दोनों को युद्ध के सम्मुख देखकर कोई सेठ के भट भय को प्राप्त कर यहाँ वहाँ भाग गए ।।१८,१९।। फिर कोई कंपित हाथ पैर वाले मनुष्य चित्र में स्थित के समान निश्चल हो गए, अपनी सेना को नाश के सम्मुख देखकर यह सागर वृद्धि सेठ, इस प्रकार चिंता को प्राप्त हुआ ।।२०।। हम लोग न्यायपूर्वक धन अर्जन करने मेंकुशल हैं। इस युद्ध में भीलों के स्वामियों से जीतने में असमर्थ हैं, ये हम लोगों के बिना कारण बैरी होकर हम लोगों को दुखी कर रहे हैं, यहाँ हम क्या करें ।।२१।। यहाँ हमारा कोई रक्षक मनुष्य नहीं हैं क्या यह जगत वीरों से रहित हो गया है। इस प्रकार बोलते हुए उस समीपवर्ती वरांग राजा ने भी सेठ को कहा ।।२२।। हे वणिक्पति तुम व्यर्थ खेद मत करो और तुम मेरी कुछ चेष्टा को देखो थोड़ी उच्छ्वास से सहित सम्पूर्ण शरीर वाला यह वरांग इस प्रकार कहकर युद्ध के लिए तैयार होकर चला ।।२३।। ये क्षुद्र भील कैसे व्यापारियोंकी सम्पूर्ण आयु को समाप्त कर रहे हैं, यह मेरे पराक्रम का अवसर है मैं दूसरों

पराक्रमस्यावसरो ममायं, करोमि रक्षां परपीडितानाम् ॥२४॥
ततो विचिन्त्येति स राजसिंहः, पदप्रहारेण पुलिन्दमेकम्।
निपात्य भूमौ करवालमाशु सखेटकं तत्करतोऽग्रहीच्च ॥२५॥
आन्दोलयन्खड्ग-मरीञ्जिघांसु-रितस्ततोऽऽन्याञ्शबरान्विमुच्य।
कालं प्रपेदे नरनाथसुनुः, सिंहो यथा मत्तगजं सकोपम् ॥२६॥
रे रे किराताधम! किं वणिग्भिर्योद्धुं प्रवृत्तेऽपि न लज्जसे किम्।
शूरोऽसि चेद्दर्शय मत्पुरस्तात्सङ्ग्रामभूमाविह कौशलं त्वम् ॥२७॥
श्रुत्वा तदुक्तं वचनं स कालोप्यज्ञातसामर्थ्यगुणोस्य राज्ञः।
जघान भूपं गदया च मूर्ध्नि तं वञ्चयामास नृपः प्रहारम् ॥२८॥
सन्ताडितो भूपतिना स कालः खड्गेन सद्योऽवनि-पात-मेत्य।
प्राणैर्गतः खण्डितगात्रयष्टिः, स्रवन्महाशोणित-शोणदेहः ॥२९॥
तं पातितं तेन स सार्थवाहो, दृष्टवा पुनश्चिन्तयति स्म चैवम्।
अहो महानेष नरो गुणान्स्वान्न वक्ति नो स्वं प्रकटीकरोति ॥३०॥
जाने न नाम्ना च कुलेन को वा, कुतः किमर्थं वनमाश्रितो वा।
मत्सन्निधौ तिष्ठति वा किमर्थं, को वा विजानाति सतां चरित्रम् ॥३१॥
कृतोपकारस्य विना निमित्तं, करोमि किं प्रत्युपकार-मस्य।

से पीड़ितों की रक्षा करता हूँ ॥२४॥ उसके बाद इस प्रकार विचार कर उस राजसिंह ने पैर के प्रहार से एक भील को भूमि पर गिरा कर शीघ्र ही ढाल से सहित तलवार को उसके हाथ से ग्रहण कर लिया ॥२५॥ राजपुत्र वरांग शत्रुओं को मारने की इच्छा से तलवार को घुमाता हुआ यहाँ-वहाँ अन्य भीलों को छोड़कर जैसे सिंह क्रोध सहित हाथी को प्राप्त होता है उसी तरह वह वरांग काल नामक भीलराज को प्राप्त हुआ ॥२६॥ और उसने काल नामक भिल्लराज से कहा—अरे रे नीच भिल्ल! व्यापारियोंके साथ युद्ध को प्राप्त हुआ भी तू लज्जित क्यों नहीं होता यदि तू शूरवीर है तो मेरे सामने यहाँ संग्राम भूमि में अपने कौशल को दिखा ॥२७॥ अज्ञात सामर्थ्य गुण वाले इस राजा के वचन को सुनकर उस काल ने भी राजा को गदा से शिर पर मारा राजा ने उस प्रहार को वंचित/व्यर्थ कर दिया ॥२८॥ राजा के द्वारा प्रताड़ित वह काल तलवार के द्वारा शीघ्र ही भूमि पतन को प्राप्त कर अर्थात् पृथ्वी पर गिरकर खंडित शरीर वाला झरते हुए अत्यधिक खून से लाल शरीर वाला प्राणोंसे रहित हो गया ॥२९॥ उस राजा के द्वारा उस काल को गिरा हुआ देखकर उस सेठ ने इस प्रकार विचार किया, ओह यह मनुष्य गुणों से महान हैं स्वयं के गुणोंको नहीं कहता है और न स्वयं को प्रकट करता है ॥३०॥ नाम और कुल से वह कौन है, मैं नहीं जानता अथवा यह कहाँ से किसलिये वन को प्राप्त हुआ अथवा मेरे पास किसलिये रहता है अथवा सज्जनों के चरित्र को कौन जानता है ॥३१॥ बिना कारण के उपकार करने वाले इस राजपुत्र का क्या

विचिन्तयत्येवमसौ च यावन्महादिकालो नृप-माससाद ।।३२।।
ब्रूते च कोपान्मम नन्दनं त्वं, हत्वा क्व रे यासि नृशस कालम् ।
छित्वा शिरस्तेऽद्य नयामि शीघ्रं, यमालयं किं बहुभाषितेन ।।३३।।
किरातमुक्तैर्निशितैः शरास्त्रैः सर्वाङ्ग-विद्धोऽपि वराङ्गराजः ।
अभ्येत्य खड्गेन निहत्य भूमौ, तं पातयामास किरात-नाथम् ।।३४।।
मृते किराते च महादिकाले, पलायनं चक्रु-रितस्ततोऽन्ये ।
भूपोऽपि बाणव्रण-पीडिताङ्गः सम्प्राप्य मूर्च्छां धरणी-मवाप ।।३५।।
पुलिन्द-सेना-मवलोक्य भग्नां, रणे वराङ्गेन स सार्थवाहः ।
सुवाद्य-नादैर्जय-घोषणां च, प्रदापयामास सहर्ष-चेताः(तः) ।।३६।।
दृष्ट्वा नरान्स्वान्पतितान्परांश्च, रणाङ्गणं सार्थपतिः प्रविश्य ।
मूर्च्छागतं बाण-विभिन्न-गात्रं, तं राजपुत्रं पतितं ददर्श ।।३७।।
स तं विलोक्यावनिपाल-सूनुं रणाङ्गणस्थं विललाप चैवं ।
हा! पुत्र हा! धीरधुरीणवृत्ते प्राप्तोस्यवस्थां कथमीदृशीं त्वम् ।।३८।।
परस्व - लोभ - प्रबलान्किरातान्परोपताप - प्रथन - प्रवीणान् ।
हत्वा रणे लोकहिताय वीर! प्रसीद मे त्वं वद चैकवारम् ।।३९।।
हा हारिवाक्यामृतवारिवाह! हा रूपसम्पद्गुणशीतरश्मे! ।

उपकार करूँ और जब तक यह सेठ इस प्रकार विचार करता है तब तक महाकाल भील राजा के पास आ जाता है ।।३२।। और क्रोधपूर्वक कहता है अरे निर्दय मेरे पुत्र काल को मारकर तू कहा जाता है, आज तेरे शिर को छेद कर मैं शीघ्र ही यमालय को ले जाता हूँ, बहुत कहने से क्या ।।३३।। भीलोंके द्वारा छोड़े ये तीक्ष्ण बाण अस्त्रों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर बिद्ध होने पर भी वरांग राजा ने पास में आकर तलवार से उस भिल्लराज को मारकर भूमि पर गिरा दिया ।।३४।। और महाकाल भील के मरने पर अन्य सैनिक लोग इधर-उधर भाग गये, बाण के घावों से पीड़ित शरीर वाला वह वरांग राजा भी मूर्च्छा को प्राप्त होकर पृथ्वी पर गिर गया ।।३५।। हर्ष से सहित उस सेठ ने युद्ध में वरांग के द्वारा भीलों की सेना को भग्न देखकर अच्छे वाद्य नादों के द्वारा जय घोषणा दिलाई ।।३६।। सार्थपति ने युद्ध के आंगन में प्रवेश कर अपने मनुष्यों को, तथा दूसरे मनुष्यों को गिरा, हुआ देखकर मूर्च्छा को प्राप्त, बाण से घायल शरीर वाले उस राजपुत्र को पृथ्वी पर पड़ा हुआ देखा ।।३७।। उस सेठ ने रणांगण में स्थित उस राजपुत्र को देखकर इस प्रकार विलाप किया हाय हे पुत्र! धैर्य करने वालों के मध्य में श्रेष्ठता को धारण करने वाले, तुम कैसे इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त हुये हो ।।३८।। दूसरों को संताप देने में प्रसिद्ध चतुर और दूसरों के धन के लोभी बलशाली भीलोंको लोक हित के लिए, युद्ध मेंमारकर हे वीर! तुम मुझ पर प्रसन्न होओ और मुझसे एक बार बोलो ।।३९।। हाय पुत्र! तुम मनोहर वचन रूपी अमृत के मेघ स्वरूप हो, हाय! तुम रूप

हा सर्वविद्यागम-पार-गामिन्नुन्मील्य नेत्रे प्रविलोकयास्मान् ॥४०॥
प्रकुर्वता तेन विपालमेवं, श्रीखण्ड-कर्पूरजलैः प्रसिक्तः।
सत्तालवृन्तानिलवीज्यमानो राजा समुत्थाय तदोपविष्टः ॥४१॥
त्वं जीव-जीवेति चिरं वचोभि-रानन्द्य चोद्धृत्य निजं निवासं।
नीतो नृपाः सागरवृद्धिनाम्ना, तद्वृत्त-तुष्टामल-चेतसा च ॥४२॥
व्रणोत्थ-रक्तामल-लिप्त-गात्रं, प्रक्षाल्य तं सागरवृद्धिमुख्यैः।
कृतः प्रलेपश्च वपुर्व्रणेषु सद्भेषजानां व्रणदोषशान्त्यै ॥४३॥
व्रणा ययुः शान्ति-महोभि-रल्पै-रारोग्य-संस्त्यान-मवाप भूपः।
तस्मै प्रदातुं च सुवर्ण-कोटीं सद्रत्न-लक्षं वणिगानिनाय ॥४४॥
आनीत-मालोक्य धनं प्रभूतं, महीपतिः सागर-वृद्धिमाह।
धनाभिलाषी न भवामि तात! कल्याणमैत्री मयि ते स्थिरास्तु ॥४५॥
धनेन तृप्यंति नराधमाश्च धनेन मानेन नृ-मध्यमास्ते।
नरोत्तमा मान-यशोभिवृद्ध्या, भवान्धनेनार्जय धर्मवृद्धिम् ॥४६॥
श्रुत्वा स तस्यैव-मुदार-वाक्यं श्रोत्रप्रियं तथ्य-मतीव हृष्टः।
धनं ददा-वर्थि-जनाय भूरि नीरोगतास्त्यान-महोत्सवे च ॥४७॥

संपत्ति गुणों की वृद्धि के लिए चन्द्रमा स्वरूप अर्थात् चन्द्रमा के समान आनंददायक हो। हाय तुम सर्व विद्या वा शास्त्रोंमें निपुण नेत्रों को खोलकर हम लोगों को देखो ॥४०॥ इस प्रकार विलाप करते हुए उस सेठ के द्वारा वह श्रीखंड चन्दन मिश्रित कर्पूर जल के द्वारा सींचा गया, और अच्छे ताल/पंखों की हवा से वीच्यमान राजा वरांग उठकर वहीं बैठ गया ॥४१॥ और उसके चरित्र से संतुष्ट निर्मल-चित्त वाले सागर-वृद्धि सेठ ने तुम चिरकाल तक जीवित रहो, जीवित रहो, ऐसे वचनों से आनंदित हो राजा को उठाकर अपने निवास स्थान को ले गया ॥४२॥ घावों से उत्पन्न खून रूपी मल से सर्वांगीण लिप्त शरीर वाले उस वरांग को सागर वृद्धि आदि मुख्य लोगों ने पौंछकर शरीर के घावों में अच्छी औषधियों का, घावों के दोषों की शान्ति के लिए अच्छी तरह लेप किया ॥४३॥ थोड़े ही दिनों द्वारा घाव शान्ति को प्राप्त हो गये और राजा वरांग आरोग्यता को प्राप्त हो गया अर्थात् पूर्ण स्वस्थ हो गया और इसी प्रसंग में उसको देने के लिए सेठ लोग करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ तथा एक लाख उत्तम रत्न ले आये और इस प्रकार लाये हुए बहुत धन को देखकर राजा वरांग ने सागरवृद्धि सेठ को कहा हे तात! मैं धन का अभिलाषी नहीं हूँ मेरी तुमसे कल्याणमय मैत्री/मित्रता स्थिर हो ॥४४,४५॥ अधम मनुष्य धन से तृप्त (सन्तुष्ट) होते हैं,मध्यम मनुष्य धन और मान से सन्तुष्ट होते हैं, और उत्तम मनुष्य मान और यश की वृद्धि से सन्तुष्ट होते हैं, आप धन से धर्म वृद्धि को अर्जित करें ॥४६॥ अत्यन्त प्रसन्न उस सेठ ने उस वरांग के कर्णप्रिय यथार्थ हितकर उदार वचन को सुनकर, वरांग राजा की नीरोता के प्रसार के महोत्सव में याचकजनों के

ततः प्रतस्थे वणिजा-मधीशः शुभे मुहूर्तेनिज-पत्तनं सः।
कृत्वा कुमारं शिबिकाधिरूढं सहैव चानेन वनप्रदेशात्॥४८॥
वणिग्जनास्ते सततप्रयाणैः, पुरीं निजां प्रापुरहोभिरल्पैः।
अनल्प-लाभाप्तधनाः प्रसिद्धाः, समं कुमारेण वराङ्गनाम्ना॥४८॥
महोत्सवोऽभूल्ललिताह्वपुर्यां, प्रवेशकाले वणिजां गृहेषु।
राजा समं सागरवृद्धिनामा, सम्प्राप्तहर्षश्च विवेश वेश्म॥४९॥
प्राग्ज्ञात-वृत्ता वरहेम-पात्रे, पत्याज्ञया सागर-वृद्धिभार्या।
अर्घं निधाय स्वयमेव हर्षा-दुत्तारयामास नृपं प्रतीह॥५०॥
संस्नाप्य सार्थाधिपतिस्तु मार्गश्रमापनोदाय वराङ्गकं तं।
सम्भोजयामास च स [१]स्वपङ्क्तौ स भुक्तवान्शुद्ध-मनोहरान्नं॥५१॥
ततो गृहीत्वास्य करं करेण, वणिक्पतिर्भूमिपतिं विवेकी।
अकृत्रिमप्रेम-रसोपपन्ना-मुवाच वाचं मुदितान्तरात्मा॥५२॥
इदं गृहं त्वं तनयो ममाद्य, मातेय-मेते च सहोदरास्ते।
हिरण्य-धान्याम्बर-भूषणाद्यं, सर्वं त्वदायत्तमवैहि पुत्र॥५३॥
त्वं देहि दानं सुत भुंक्ष्व भोगान्विधेहि धर्मं च परोपकारं।
नान्यत्र गंतव्य-मिहैव तिष्ठ, प्रसीद मां पालय दीर्घकालम्॥५४॥

१. तस्य।

लिये बहुत धन दिया॥४७॥ इसके बाद व्यापारियोंके मुखिया उस सेठ ने शुभ मुहूर्त मेंउस कुमार को पालकी में विराजमान कर और उसके साथ ही वन प्रदेश से अपने नगर को प्रस्थान किया॥४८॥ बहुत लाभ से प्राप्त धन वाले प्रसिद्ध वरांग नामक कुमार के साथ वे व्यापारी लोग निरन्तर प्रस्थानों के द्वारा थोड़े ही दिनों में अपनी नगरी को पहुँचे॥४८॥ ललितपुर नामक नगरी में व्यापारियों के घरों में प्रवेश के समय महान् उत्सव हुआ, हर्ष को प्राप्त वरांग राजा ने सागरवृद्धि नामक सेठ के साथ घर में प्रवेश किया॥४९॥ पहले ज्ञात वृत्तान्त वाली पति की आज्ञा से सागर वृद्धि सेठ की पत्नी ने स्वयं ही हर्ष से श्रेष्ठ स्वर्ण पात्र में अर्घ को रखकर यहाँ राजा वरांग की आरती उतारी॥५०॥ और वणिकपति ने मार्ग के श्रम को दूर करने के लिए उस वरांग राजा को स्नान करा कर उसने अपनी पंक्ति मेंअच्छी तरह भोजन कराया और उस राजा ने शुद्ध मनोहर अन्न को ग्रहण किया ॥५१॥ उसके बाद प्रसन्न अंतरात्मा वाले विवेकी वणिक्पति ने राजा के हाथ को हाथ से ग्रहण कर स्वाभाविक प्रेम रस से उत्पन्न वचन को राजा से बोला॥५२॥ हे पुत्र! तुम आज मेरे पुत्र हो, यह मेरे पत्नी तुम्हारी माता है, और मेरे ये पुत्र तुम्हारे भाई हैं। इस घर को और चाँदी, स्वर्ण, धान्य, वस्त्र, आभूषण आदि सभी को तुम्हारे अपने आधीन जानो॥५३॥ हे पुत्र! तुम दान देओ, भोगों को भोगों, धर्म और परोपकार को करों, अन्य जगह नहीं जाना, यही पर

इति प्रगल्भं मधुरार्थगर्भं, प्रेमद्रमोत्पत्ति-विशुद्धिबीजम्।
श्रुत्वा तथेति प्रतिपद्य वाक्यं, वणिक्पतेस्तद्गृहमध्युवास ।।५५।।
कश्चिन्महानेष भटो रणेऽरीन्ररक्ष जित्वा वणिजां समूहम्।
वदन्ति लोका ललिताह्व-पुर्यां, कश्चिद्भटाख्यां स ततो जगाम ।।५६।।
गृहे गृहे तत्र वणिग्जनानां, देवालयोद्यानसभाप्रपासु।
वक्ति प्रशंसां सततं गुणज्ञाः, कश्चिद्भटस्याप्रतिपौरुषस्य ।।५७।।
वणिग्जनाः सागरवृद्धिनामा विचार्य सार्धं नृपतिं गृहीत्वा।
कदाचिदुद्यानवनं प्रयाता, देवा विनोदादिव भद्रशालं ।।५८।।
उद्यानमालोक्य वणिग्जनेषु तथोपविष्टेषु शुचिप्रदेशे।
तत्प्रेरितः सागरवृद्धिरित्थं जगाद कश्चिद्भटमात्मपुत्रम् ।।५९।।
सौंदर्यमत्यद्भुतविक्रमं ते, गुणानुदारान्प्रविलोक्य तोषात्।
सुताः सुतामी वणिजां प्रधानां, वाञ्छन्ति दातुं भवते प्रतीच्छ ।।६०।।
अलं पितर्दारपरिग्रहेण पुनर्न वाच्यं भवता ममैवं।
यद्यस्ति मैत्री मयि निः प्रपंचा, वद त्वमन्यद्धितमात्मजाय ।।६१।।
आस्तामियं वत्स विवाहवार्ता, वाञ्छन्ति दातुं वणिजां प्रभुत्वम्।
वणिग्जनाः स्वीकुरु तत्त्वमेषा-मभीष्टसिद्ध्यै विशदात्मबुद्धे! ।।६२।।

रहो, प्रसन्न रहो, मेरी दीर्घकाल तक रक्षा करो ।।५४।। इस प्रकार प्रौढ़ मधुर अर्थ से भरे प्रेम रूपी वृक्ष की उत्पत्ति की विशुद्धि के बीज भूत सागरवृद्धि सेठ के वचन को सुनकर वैसा ही हो, इस प्रकार कहकर वरांग राजा वणिक्पति के उस घर में रहने लगा ।।५५।। यह कोई महान् भट है जिसने युद्ध में शत्रुओं को जीत कर व्यापारियों के समूह की रक्षा की, इसलिए ललित नामक पुर में लोग उसे 'कश्चिद भट' के नाम से कहते हैं। वह उससे प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ ।।५६।। वहाँ वणिकजनों के घर-घर में देवालय, बगीचा, सभा और पियाऊओं में इस कश्चिद भट के अप्रतिम पौरुष/पराक्रम की गुणज्ञ जन निरन्तर प्रशंसा करते थे ।।५७।। वणिक्जनों और सागरवृद्धि नामक सेठ ने विचार करके वरांग राजा को साथ में ग्रहण कर किसी उद्यान वन में गये, वह वन देवों के विनोद (मनोरंजन) से भद्रशाल वन के समान था ।।५८।। पवित्र प्रदेश में उस तरह बैठे हुए वणिक्जनों को उद्यान में देखकर, उनसे प्रेरित सागरवृद्धि नामक सेठ ने कश्चिद्भट नामक अपने पुत्र को इस प्रकार कहा ।।५९।। हे पुत्र! तेरे सौन्दर्य अद्भुत, पराक्रम और उदार गुणों को देखकर सन्तोष से व्यापारियों के मुखिया श्रेष्ठि जन तुम्हारे लिए पुत्रियाँ देना चाहते हैं, तुम स्वीकार करो ।।६०।। हे पिता जी मुझे स्त्री परिग्रह नहीं करना, आप मुझसे इस प्रकार फिर न कहें यदि मेरे प्रति आपकी मायाचार रहित मित्रता है तो तुम अपने पुत्र के लिए अन्य हितकारी बात कहो ।।६१।। हे निर्मल आत्मबुद्धि वाले वत्स! यह विवाह वार्ता दूर रहे, व्यापारीजन तुम्हें व्यापारियों के स्वामित्व को देना

वणिक् प्रभुत्वे स कृताभिलाषस्तूष्णीं स्थितः श्रेष्ठिवचो निशम्य।
ज्ञात्वास्य चित्तं वणिजो बबन्धुः श्रेष्ठित्व-पट्टं ललिताह्वपुर्यां ॥६३॥
नरोत्तमश्चारु-चरित्र-मूर्तिः पराक्रमोपार्जित-शुद्ध-कीर्तिः।
स प्राग्भवोपार्जित-पुण्य-पाकाद्वणिग्जनाना-मधिपो बभूव ॥६४॥
सदागमज्ञाः सुवचस्विनोऽपि, परोपकारे निरताः सुवृत्ताः।
किमत्र चित्रं यदि वा पुमांसो, ह्याराध्यतां यांति सदा जनानां ॥६५॥
विबुध-सदसि पूज्यो निर्जितैकान्तवादो, युवति-नयन-पेयो रूप-सौभाग्य-रागात्।
निजभुज-बलपुञ्जात्खण्डिताराति-वर्गो, जयति ललितपुर्यां वीर-कश्चिद्भटाख्यः ॥६६॥
अपि विपिन-मितो ना दूरदेशं गतो वा, यदि सुकृत-गुणेनालङ्कृतोऽत्यन्त-पूज्यः।
भवति नरसुराणां कीर्ति-माप्नोति चोर्व्यां, मदगज इव नित्यं भूभुजां भूरिवीर्यः ॥६७॥

इति श्रीपरवादि-दन्तिपञ्चानन-श्रीवर्द्धमानदेवभट्टारकविरचिते
वराङ्गचरिते ललितपुर-प्रवेशो नाम षष्ठः सर्गः।

चाहते है, तुम इनकी अभिष्ट सिद्धि के लिए उसे स्वीकार करो ॥६२॥ उस वरांग ने व्यापारियों के स्वामित्वपने की अभिलाषा की सागरवृद्धि सेठ के वचन को सुनकर चुप रहा, इसके मन को जानकर ललित नामक नगर में व्यापारियों ने उसे श्रेष्ठीपने के प्रधान पट्ट को बाँधा ॥६३॥ मनुष्यों में उत्तम सुन्दर चरित्र की मूर्ति पराक्रम से उपार्जित शुद्ध कीर्ति वाला वह वरांग पूर्व भव में उपार्जित पुण्य कर्म के उदय से वणिक जनों का राजा हुआ ॥६४॥ उत्तम आगम का ज्ञाता, अच्छे वचन बोलने पर भी परोपकार में निरत, सदाचारी, अगर ऐसे मनुष्य हैं, तो इस विषय में क्या आश्चर्य है कि वे हमेशा मनुष्यों की आराध्यता को प्राप्त होते हैं ॥६५॥ विद्वानों की सभा में पूज्य आदरणीय एकान्तवाद को जीतने वाला, रूप सौभाग्य के राग से स्त्रियों के नेत्रोंसे पीने योग्य अर्थात् देखने योग्य, अपनी भुजाओं के बल के समूह से खंडित किया है शत्रु समूह को जिसने ऐसा वह कश्चिद् भट नामक राजपुत्र वरांग ललितपुरी में जयवन्त हैं ॥६६॥ जंगल को प्राप्त अथवा दूर देश को गया हुआ भी मनुष्य अगर पुण्य गुण से अलंकृत है तो मनुष्यों और देवों के द्वारा अत्यन्त पूज्य माननीय होता है, और पृथ्वी पर कीर्ति को प्राप्त करता हैं और मद वाले हाथी के समान राजाओं के समूह में सभी की अपेक्षा अधिक बलिष्ठ होता है ॥६७॥

इस प्रकार परवादी रूपी हाथी के लिए सिंह स्वरूप श्री वर्धमान भट्टारक देव द्वारा विरचित
वरांग चरित्र में ललितपुर में प्रवेश नामक छटवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

—00000—

सप्तमः सर्गः

अथ कान्तपुराद् [१]दूर, - देशं नीते नृपात्मजे । वाजिना चेष्टितं तत्र [२]यज्ज्ञातं तद्वदाम्यहम् ॥१॥
तदा तुरंगमा नागा, नरा भृत्या रथा नृपं । अनुगंतु-मशक्तास्ते, व्याघुट्य पुर-मागताः ॥२॥
कुर्वतो विविधं खेद, - मागत्य नृपमंदिरम् । धर्मसेनं-नृपं दृष्ट्वा जगदुर्दुःखिताः वचः ॥३॥
वाजिना वायुवेगेन, दुर्विनीतेन भूपते । पश्यतां सर्वलोकानां, वरांगस्त्वत्सुतो हृतः ॥४॥
विद्याधरामरै[३]र्वायं दैत्येन हयरूपिणा । नीतो मायाप्रपंचेन दूरदेशं नृपात्मजः ॥५॥
श्रुत्वा तेषां वचो राजा, मूर्च्छा-माप्य महीतले । पपात तत्क्षणाच्छैलो, वज्रेणाभिहतो यथा ॥६॥
चन्दन-द्रव-सिक्ताङ्गस्, तालवृन्तानिलैर्नृभिः । आप्यायितः समुत्थाय, ततान परिदेवनम् ॥७॥
हा गुणार्णव-पूर्णेन्दो!, हा भोजकुलशेखर! । हा हा वत्स! महाभाग, हा कलागमकोविद! ॥८॥
हा शशांकयशोराशे! हा हारिवचनार्णव! । हा लोकनयनानंद! क्व गतोऽसि विमुच्य मां ॥९॥
क्व गच्छामि क्व तिष्ठामि किं करोमि कमाश्रये । शून्यमेतज्जगत्सर्वं भाति त्वद्विरहे सुत! ॥१०॥
हाह-मद्य-निराधारो, निरालम्बो विना त्वया । अद्य मे भवनं सर्वं, प्रियमप्रियतां गतम् ॥११॥
जातं कृत्य-मकृत्यं मे, भाग्य-मत्यल्पतां गतम् । दूरं गते वराङ्गे च, विधिना वञ्चितोऽस्म्यहम् ॥१२॥

१. दूराद् । २. यज्जातं । ३. र्वाथं ।

इसके बाद कान्तपुर से दूर देश को घोड़े के द्वारा राजपुत्र के ले जाने पर वहाँ पर जो चेष्ठा हुई, (जो ज्ञात है) उसे मैं कहता हूँ ॥१॥ तब घोड़े, हाथी, मनुष्य, सेवक, उस राजा का पीछा करने के लिए असमर्थ वे सब लौट कर नगर को वापिस आ गए ॥२॥ राजमन्दिर में आकर अनेक प्रकार से खेद करते हुए और धर्मसेन राजा को देखकर दु:ख सहित वचन बोले ॥३॥ हे राजन्! वायु के समान शीघ्र वेग से, विनय रहित दुष्ट घोड़े के द्वारा सभी लोगों के देखते हुए आपका पुत्र वरांग हरा गया ॥४॥ क्या विद्याधर व देवों के द्वारा अथवा माया प्रपंची घोड़े के रूप वाले दैत्य के द्वारा यह राजपुत्र दूर देश ले जाया गया ॥५॥ उन लोगोंके वचन को सुनकर राजा मूर्च्छा को प्राप्त हो, उसी क्षण पृथ्वी तल पर गिर पड़े जैसे वज्र से ताड़ित पर्वत हो ॥६॥ मनुष्यों के द्वारा चंदन के द्रव से सींचे गए अंग वाले और ताल के पंखों की वायु से व्याप्त तृप्त राजा ने उठकर करुण विलाप को विस्तृत किया ॥७॥ हाय गुण रूपी समुद्र को बढ़ाने के लिए पूर्ण चन्द्र स्वरूप! हाय भोज कुल के मुकुट! हाय वत्स! हाय महाभाग! हाय कला और शास्त्र के विद्वान! हाय चन्द्रमा के समान यश की राशि वाले! हाय मन को हरण करने वाले वचनों के समुद्र! हाय लोगों के नेत्रोंको आनंद देने वाले तुम मुझे छोड़कर कहाँ चले गए हों? ॥८-९॥ हे पुत्र! मैं कहाँ जाऊँ, मैं कहाँ ठहरूँ, मैं क्या करूँ, किसका आश्रय लूँ, तुम्हारे विरह में यह सम्पूर्ण जगत् मेरे लिए शून्य के समान प्रतिभासित हो रहा है ॥१०॥ हे पुत्र! तुम्हारे बिना मैं आज निराधार निरालम्ब हो गया हूँ। आज मेरा सर्वप्रिय भवन अप्रियता को प्राप्त हो गया है ॥११॥ वरांग के दूर जाने पर मैं कर्म से वंचित/ठगाया हुआ हूँ। मेरे लिए करने योग्य कार्य अकरणीय हो गया है और भाग्य अति अल्पता को प्राप्त हो गया है

क्व गतोऽसि वरांग त्वं, किं करोषि क्व तिष्ठसि। एहि देहि प्रियां वाचं बन्धुलोकप्रियंकराम् ॥१३॥
हा वाजिना क्व नीतोऽसि दूरं देशं प्रपातितः। गर्तायामथवा क्षिप्ते, महापर्वत-गह्वरे ॥१४॥
विलाप-मिति कुर्वन्तं, दृष्ट्वेश-मितरे जनाः। रुरुदुस्तत्समीपस्था, वराङ्ग-विरहातुराः ॥१५॥
कोलाहलं तमाकर्ण्य, राजमन्दिर-मेत्य च। जगदुर्मन्त्रिणो भूप-मनन्ताद्याः सुदुःखिताः ॥१६॥
खेदं मा कुरु राजेन्द्र!, देहिना-महितावहम्। त्वयि शोकाकुले सर्वो राजन् लोकोऽतिदुःखितः ॥१७॥
नीतोऽयं केनचित्पूर्व-वैरिणा हयरूपिणा। दूरदेशं कुमारस्ते, बद्धद्वेष-मलीमसा ॥१८॥
विद्वेषिणा वा [1]दुर्मन्त्रप्रयोगेन दुरात्मना। राज्यादुत्सारितो दूरं, केनचिद्दुष्टमन्त्रिणा ॥१९॥
दीर्घायुस्ते सुतोऽवश्यं, कालेन कियतैष्यति। नोत्पद्यन्ते कुलेऽल्पायुरपुण्यो भवतो यतः ॥२०॥
जीवितो [2]भवने पुंसः सुकृतैक-गुणस्य च। गतस्यागमनं देव!, विद्यते न मृतस्य च ॥२१॥
प्रभामण्डल-नामासौ प्रद्युम्नोऽपि नरोत्तमः। आगत्यापहृतावेतौ, किं नायातौ निजं गृहम् ॥२२॥
कुरु धैर्यमतो राजन्, स्वस्थचित्तो भवाधुना। सुखी दुःखी भवेज्जीवः, स्वशुभाशुभकर्मणा ॥२३॥
इति प्रबोधितो यावत्तूष्णीं स सचिवैः स्थितः। तावत्तत्सर्ववृत्तान्तं, शुश्राव गुणदेव्यपि ॥२४॥

१. दुर्मन्त्रि–। २. भुवने।

॥१२॥ हे वरांग! तुम कहाँ गए हो ? तुम क्या कर रहे हो ? तुम कहाँ ठहरे हो? आओ और बंधु लोगोंको प्रिय करने वाले प्रिय वचन को देओ/बोलो ॥१३॥ हा घोड़े के द्वारा कहाँ ले जाये गये हो, दूर देश में गिराये गये होगे अथवा महापर्वत की खाई में डाले/गिराये हो ॥१४॥ इस प्रकार राजा को विलाप करते हुए देखकर वरांग के विरह से पीड़ित उस राजा के पास मेंअन्य लोग भी रोने लगे ॥१५॥ उस कोलाहल को सुनकर राजा के अत्यंत दुखी अनंतसेन आदि मंत्रियों ने राजमन्दिर में आकर राजा को कहा—हे राजेन्द्र तुम प्राणियों के अहित को करने वाले खेद को मत करो हे राजन्! आपके शोकाकुल होने पर सभी लोग अति दुखी हैं ॥१६-१७॥ बाँधे हुये द्वेष से मलिन चित्त वाले घोड़ा रूप धारी किसी पूर्व भव के बैरी के द्वारा तुम्हारा यह कुमार दूर देश को ले जाया गया है ॥१८॥ अथवा कोई पापात्मा विद्वेषी दुर्मंत्र/कूटनीति के प्रयोग से दुष्ट मंत्री के द्वारा राज्य से दूर हटाया गया है ॥१९॥ हे राजन्! तुम्हारा पुत्र अवश्य ही दीर्घ आयु है कुछ काल में आ जायेगा, क्योंकि आपके कुल में अल्प आयु और अपुण्यवान् उत्पन्न नहीं होते ॥२०॥ हे देव भवन में पुण्य प्रधान गुण वाले पुरुष के जीवित रहते हुए, गये हुए का आगमन होता है, मरे हुए का नहीं ॥२१॥ यह (सीता का भाई) भामण्डल नामक नरोत्तम और (श्रीकृष्ण का पुत्र) पुरुषोत्तम प्रद्युम्न हरण किये गये ये दोनों क्या अपने घर नहीं आये थे अर्थात् आये थे ॥२२॥ अतः हे राजन्! इस समय धैर्य धारण करो, स्वस्थ चित्त होओ, संसार में जीव अपने शुभ व अशुभ कर्मों से सुखी-दुखी होता है ॥२३॥ इस प्रकार मंत्रियों के द्वारा समझाया गया, वह राजा जब तक चुपचाप स्थित था तब तक उस सब वृत्तान्त को गुणदेवी ने भी सुना ॥२४॥ पुत्र वधूओं से सहित गुणदेवी ने उस वार्ता को अपने मनुष्य से

सस्नुषा गुणदेवी तां, श्रुत्वा वार्तां निजान्नरात् । मूर्च्छिता पतिता भूमौ, छिन्नविद्येव खेचरी ॥२५॥
चंदनद्रव-कर्पूर-सुशीतव्यजनानिलैः । आप्यायिता समुत्थाय, विललाप नृपांगना ॥२६॥
हा हा वत्स वरांग त्वं, क्व गतोऽसि विहाय मां । वाजिना दुर्विनीतेन, [1]प्रापितः कां दशां वद ॥२७॥
वाजिना पतितोऽसि त्वमटव्यां वाद्रि-गह्वरे । प्रक्षिप्तेऽसि लतागुल्मे, तृण-कण्टक-सङ्कटे ॥२८॥
हा पुत्र त्वां क्व पश्यामि, हसितास्यमनोहरं । केन सम्भाषणं कुर्वे, त्वां विना वा विदांवर ॥२९॥
हा मत्कुक्षि-सरोहंस! हा मन्नेत्राब्ज-भास्कर! । हा मत्प्रेम-समुद्रेन्दो! हा मद्वाञ्छित-पूरक! ॥३०॥
आगच्छागच्छ पुत्र! त्वमहं त्वद्विरहाकुला । न शक्नोमि क्षणं प्राणान्धर्तुं त्वद्दर्शनं विना ॥३१॥
मधुरं स्वादु सुस्निग्धं, भोज्य-मन्नं विषायते । जातं पेय-मपेयं च, त्वयि दूरं गते स्तुते ॥३२॥
बालकाः कोकिलाचक्र-वाकीनां पूर्वजन्मनि । मया वियोजिताः पुत्र!, तस्यैतत्कर्मणः फलम् ॥३३॥
[2]पत्न्यो वरा वराङ्गस्यानुपमाद्याः सुलोचनाः । गुणदेवी-समीपस्था, विलापमिति चक्रिरे ॥३४॥
हा नाथ! हा गुणाम्भोधे, हा तप्तकनकद्युते! । हा नो नेत्राब्ज-सूर्येश!, क्व गतोऽसि विहाय नः ॥३५॥
हा शशाङ्क-यशोराशे!, हा सिंहशिशुविक्रम! । हा शत्रु-कैरवाराम-सङ्कोचन-दिवाकर! ॥३६॥

१. प्रापिता। २. पत्न्या।

सुनकर मूर्च्छित होती हुई छिन्न हो गई है, विद्या जिसकी ऐसी विद्याधरी के समान पृथ्वी पर गिर पड़ी ॥२५॥ चन्दन के द्रव, कर्पूर और अति शीतल पंखोंकी वायु से तृप्त रानी ने उठकर विलाप किया ॥२६॥ हा-हा वत्स वरांग तुम मुझे छोड़कर कहाँ गये हो, दुष्ट घोड़े के द्वारा किस दशा को प्राप्त हुये हो, मुझे कहो ॥२७॥ तुम घोड़े के द्वारा अटवी अथवा पहाड़ की खाई में गिराये गये हो, तृण कंटक से व्याप्त लताओं के समूह में फेंके गये हो ॥२८॥ हाय पुत्र! तुमको कहाँ देखूँ, प्रसन्न मुख से मनोहर अथवा विद्वानोंमें श्रेष्ठ तुम्हारे बिना मैं किससे सम्भाषण करूँ ॥२९॥ हा मेरे उदर रूपी सरोवर के हंस! हा मेरे नेत्र रूपी कमलोंको विकसित करने के लिए सूर्य स्वरूप! हा मेरे प्रेम रूपी समुद्र को बढ़ाने वाले चन्द्रमा! मेरी इच्छाओं को पूर्ण करने वाले हे पुत्र आओ-आओ मैं तुम्हारे विरह से आकुलित हूँ तेरे दर्शन बिना क्षण भर भी मैं प्राणों को धारण करने में समर्थ नहीं हूँ अर्थात् तेरे दर्शन के बिना मैं प्राणों को क्षण भर भी धारण नहीं कर सकती हूँ ॥३०-३१॥ हाय गुण स्तुत! तुम्हारे दूर चले जाने पर मधुर स्वाद युक्त अति चिकने खाने योग्य भोज्यान्न विष के समान प्रतीत होते हैं, और पीने योग्य न पीने योग्य हो गये हैं ॥३२॥ हे पुत्र! पूर्व जन्म में मेरे द्वारा कोकिला और चकवी के बच्चों को उनके माता-पिता से अलग किया होगा, यह उस कर्म का फल हैं ॥३३॥ गुण देवी के पास स्थित युवराज वरांग की अनुपमा आदि सुन्दर नेत्रों वाली सुन्दर पत्नियों ने भी इस प्रकार विलाप किया। हाय नाथ! हाय हे गुणों के समुद्र! हाय तपाये हुए स्वर्ण के समान कान्ति वाले! हाय हमारे नेत्र रूपी कमलों को विकसित करने करने लिए सूर्य स्वरूप! हाय स्वामी हम लोगों को छोड़कर कहाँ गये हो। हाय चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश राशि वाले! अरे सिंह के बालक के समान पराक्रमी! हाय शत्रुरूपी चन्द्रोदय विकासी श्वेतकमल के बगीचे के संकोच के

मानिनी-मानसावास-राजहंसं विना त्वया । क्षणे वयं न जीवामो, मत्स्या इव जलोज्झिताः ॥३७॥
जलं जलचराणां च, पक्षाविव विहायसां । त्वं जीवितं तथास्माकं, पते! बंधुजनस्य च ॥३८॥
वस्त्राभरण-ताम्बूल-यान-शय्यासनाशनैः । किं [1]देहशतसंस्कारैः, पत्यौ दूरं गते त्वयि ॥३९॥
धिग्धिग्नो जीवितं लोके, सत्कुलं प्रवरान्गुणान् । अज्ञात-दूरदेशं हि, [2]जीवितेशे गते त्वयि ॥४०॥
कोऽपराधः कृतोऽस्माभिर्वराकीभिर्विधे! वद । येन भर्तुर्वियोगाग्नौ त्वयाहो पातिता वयम् ॥४१॥
हा क्वासि जीवितेश!, त्व-मेहि ब्रूहि प्रियं वचः । जानीहि सर्वथाऽस्माकं, त्वदायत्तं हि जीवितम् ॥४२॥
विलापमिति कुर्वाणा, गुणदेवी निशम्य सः । सस्नुषामाययौ भूपो, दुःखितांतःपुरं रुदन् ॥४३॥
हृदयं ताडयन्ती सा, सस्नुषा मुष्टिभिर्भृशम् । लुठन्ती भुवि भूपालं, दृष्ट्वा भूयो रुरोद च ॥४४॥
काश-सङ्काश-कीर्ते! हा, हा पते! गुणवत्सल! । हा हारितः कथं पुत्रो, वराङ्गो गुणसागरः? ॥४५॥
भवन्तं क्षितिगोप्तारं, विबुधाः प्रवदन्ति चेत् । कथं न रक्षितः पुत्रो, ह्रियमाणोऽत्र वाजिना ॥४६॥
त्वत्पुत्रस्य मुखं राजन्नपश्यंती क्व याम्यहं? । हृतः केन कथं [3]वासौ, त्वयि शासति मेदिनी? ॥४७॥
रुरुदुः श्वसुरं वीक्ष्य, वराङ्ग-दयितास्तदा । शोकाकुलं जगत्सर्वं, कुर्वन्त्यः करुणस्वरैः ॥४८॥

१. देहगत– । २. जीवितेश! । ३. चासौ ।

लिए सूर्य स्वरूप ॥३४-३६॥ स्त्रियों के मन रूपी मान सरोवर के राजहंस तुम्हारे बिना हम लोग पानी से निकाली गई मछलियों के समान क्षणभर भी नहीं जीयेंगे ॥३७॥ हे स्वामिन्! जलचर जीवों के लिए जल के समान, पक्षियों के लिए पंखों के समान उसी तरह हम लोगों के लिये और बन्धुजन के लिए तुम जीवनाधार हो ॥३८॥ आप पति के दूर जाने पर वस्त्र आभूषण पान, वाहन शैय्या आसन, उत्तम भोजन से और शरीर के सैकड़ों संस्कारों से क्या प्रयोजन है ॥३९॥ जीवन के स्वामी आपके अज्ञात दूर देश को जाने पर लोक में हम लोगों के सत्कुल श्रेष्ठ गुणों और जीवन को धिक्कार है ॥४०॥ हे कर्म! आश्चर्य है हम दीनों के द्वारा क्या अपराध किया गया कहो जिससे तुम्हारे द्वारा हम सब पति के वियोग रूपी अग्नि में डाले गये ॥४१॥ हे जीवन के स्वामी! तुम कहाँ हो, तुम आओ और प्रिय वचन बोलो, क्योंकि तुम जानते हो, हम लोगों का जीवन सब प्रकार से तुम्हारे आधीन है ॥४२॥ इस प्रकार पुत्र वधुओं सहित विलाप करती हुई गुणदेवी को और दुःखित अन्तःपुर को रोते हुए सुनकर वहाँ राजा आया ॥४३॥ पुत्र बन्धुओं से सहित वह गुणदेवी मुष्टियों से हृदय को अत्यधिक ताड़ित करती हुई और भूमि पर लौटती हुई राजा को देखकर पुनः रोने लगी ॥४४॥ काँस के समान निर्मल कीर्ति वाले गुणवत्सल हा-हा स्वामिन्! हा गुणोंका सागर वरांग पुत्र कैसे हरण किया गया ॥४५॥ यहाँ यदि विद्वान आपको पृथ्वी रक्षक कहते हैं, तो घोड़े के द्वारा हरण (चुराए जाने) वाले पुत्र को सुरक्षित क्योंनहीं किया गया ॥४६॥ राजन्! तुम्हारे पुत्र के मुख को नहींदेखती हुई मैं कहाँ जाऊँ, पृथ्वी आपके द्वारा शासित होने पर भी यह वरांग किसके द्वारा कैसे हरा गया ॥४७॥ तब स्वसुर को देखकर करुण स्वरों/आक्रन्दनों से सर्व जगत को शोकाकुल करती हुई वरांग की पत्नियाँ रोईं ॥४८॥ वरांग की पत्नियों ने कहा हे ससुर! देखो भाग्यहीन हम सब

पश्य श्वसुर! किं कुर्मो, भाग्यहीना वयं त्वयि। क्षितौ वितन्वति क्षेमं, भर्ता नो वाजिना हृतः ॥४९॥
प्राणनाथवियोगाग्नि-[1]तप्ताङ्गा दुःखिता वयं। क्व यामः कस्य वा ब्रूमो, विह्वलीभूत-मानसाः ॥५०॥
[2]दर्शयेर्नो हि भर्तारं, बुधलोक-मनोहरं। नो चेत्प्राणपरित्यागः, स्यादस्माकं महीपते ॥५१॥
तासां व्याकुल-चित्तानां, गुणदेव्याश्च भूपतिः। श्रुत्वा विलाप-माहेति, सिञ्चन्नेत्र-जलै-रिलाम् ॥५२॥
अलं खेदेन भो साध्व्यो! वराङ्गो मत्प्रमादतः। मायामयाश्व-रूपेण, निश्चितं रिपुणा हृतः ॥५३॥
तुरङ्गारोहणव्याजात्, कृत-कौटिल्य-शक्तितः। राज्या-दुत्सारितो दूरं, भर्ता वो गुणरत्नभूः ॥५४॥
दानभोगान्तरायादि,-कर्म यद्विहितं पुरा। युष्माभिस्तद्विपाकोऽयं, जन्मनीहावबुध्यताम् ॥५५॥
क्व गतः केन कं देशं, नीतो वा कुत्र तिष्ठति। तावन्मा कुरुत क्लेशं, मया यावद्विचार्यते ॥५६॥
इत्याश्वास्य स्नुषाः सर्वा, गुणदेवीं च भूपतिः। सभामण्डप-मागत्य, स शशास स्व-मन्त्रिणः ॥५७॥
विचार्यत च केनायं, युवराजो हृतोऽरिणा। स्थापितः कुत्र वा देशे, प्रक्षिप्तः सङ्कटे क्व वा? ॥५८॥
ततः प्रस्थापिता दूता, मन्त्रिभिस्तं नृपात्मजम्। वीक्षितुं बहवोऽन्येऽपि, नराः सायुध-वाहनाः ॥५९॥
भ्रान्त्वा नदी-ररण्यानि, ग्राम-खेट-पुराणि च। आययुस्तमपश्यंतो, व्याघुट्य नगरं निजम् ॥६०॥

१. तप्ताग–। २. दर्शयशी हि, दर्शयेन्नो।

क्या करें। आपके पृथ्वी पर कल्याण का विस्तार करने पर भी हमारे पति को घोड़े ने हर लिया ॥४९॥ विह्वल हुई मन वाली प्राण नाथ के वियोग रूपी अग्नि से सन्तप्त शरीर वाली दुखी हम सब कहाँ जाए अथवा किससे कहें ॥५०॥ विद्वान लोगों में मनोहर हमारे पति को निश्चित ही दिखाओ हे राजन! यदि नहीं दिखाते हो तो हम लोगों का प्राण परित्याग होगा ॥५१॥ व्याकुल मन वाली उन पुत्र बंधुओं का और गुणदेवी के विलाप को सुनकर नेत्र जल आँसुओं से पृथ्वी को सींचते हुए राजा ने इस प्रकार कहा ॥५२॥ भो पतिव्रताओं! खेद मत करो मेरे प्रमाद से वरांग शत्रु के द्वारा मायामय घोड़े के रूप से निश्चित ही हरा गया है ॥५३॥ की गई मायाचारी की शक्ति से घोड़े पर सवारी के बहाने से गुणरूपी रत्नों की भूमि तुम्हारा पति राज्य से दूर हटाया गया है ॥५४॥ इसलोक में पूर्व जन्म में जो दानान्तराय-भोगान्तराय आदि कर्म हमारे द्वारा किये गये हैं, वह यह उन्हीं कर्मों के उदय का फल जानों ॥५५॥ कहाँ गया है किसके द्वारा किस देश को ले जाया गया है, कहाँ ठहरा है, मेरे द्वारा यह जब तक विचार किया जाता है, तब तक तुम लोग क्लेश मत करो ॥५६॥ इस प्रकार सभी पुत्र वधुओं को और गुणदेवी को राजा ने आश्वासन/धैर्य देकर, सभा मंडप में आकर अपने मंत्रियों को आदेश दिया ॥५७॥ विचार करो यह युवराज किस शत्रु के द्वारा हरा गया है और किस देश में स्थापित किया गया है अथवा कहाँ संकट में डाला गया है ॥५८॥ उसके बाद मंत्रियों के द्वारा उस राजपुत्र को देखने के लिए दूत भेजे गये और अन्य भी बहुत मनुष्य आयुध और वाहनों सहित भेजे ॥५९॥ वे नदी, वनों, ग्रामों, खेटों और नगरों का भ्रमण कर उस वरांग को नहीं देखते हुए, वापस लौटकर अपने नगर को आ गये ॥६०॥ कोई पुरुष; घोड़ा जिस मार्ग से गया था

केचिद्धयानुमार्गेण, व्रजन्तः पतितानि च । भूमौ हार-कटीसूत्र-कुण्डलप्रमुखानि च ॥६१॥
भूषणानि वराङ्गस्य, वाजिभाण्डं च कूपतः । समादाय मृतं दृष्टवा, वाजिनं कूप-मध्यगम् ॥६२॥
युवराज्य-मपश्यन्तं, समायाता नृपान्तिकम् । भूषणानि नृपस्याग्ने, वाजि-भाण्डं च दर्शितम् ॥६३॥
दृष्टवा तं द्विगुणं शोकं, चकार वसुधाधिपः । कपोलन्यस्तहस्तोऽसौ, बाष्प-पूरित-लोचनः ॥६४॥
मुंचन्दीर्घं सुनिःश्वासं, शिरो धुन्वन्मुहुर्मुहुः । रुदन्निरुद्ध-कण्ठोसौ विललाप स-गद्गदं ॥६५॥
कुमार! सुकुमाराङ्ग! क्षुत्पिपासार्दितस्य ते । किं जातं नीयमानस्य,वनवर्त्मनि वाजिना ॥६६॥
हाहं हतोऽस्मि दैवेन, धिग्धिग्मे पौरुषं वृथा । अद्य जातोऽस्मि सर्वेषां, रिपूणामुपहास्यताम् ॥६७॥
हा विधेऽस्मिन्महापापे पातितोहं त्वया कथम् । किमेतद्दारुणं कर्म, कुमारस्योपढौकितम् ॥६८॥
हा त्वद् वक्त्रं क्व पश्यामि, राज्यभार-धुरन्धर । पवित्रीकृत्य मद्गोत्रं, क्व गतोऽसि विहाय मां ॥६९॥
हा हन्त हन्त हन्तेति, स विलापं मुहुर्मुहुः । सत्वरं सचिवा एत्य, जगदुर्जगतीपतिं ॥७०॥
शोकं मा कुरु राजेन्द्र!, स्वस्थचित्तो भवाधुना । त्वयि शोकाकुले सर्वो, राजलोकः समाकुलः ॥७१॥
शोकः सज्ज्ञान-नाशाय, शोकात्स्या-दशुभास्त्रवः । शोका-दिन्द्रिय-हानिः स्यात्ततः शोकं विवर्जयेत् ॥७२॥
पूर्वोपार्जित-कर्मैव, कारणं सुखदुःखयोः । कोऽत्र हर्षोविषादो वा, ह्यलङ्घ्या कर्मणो गतिः ॥७३॥

उस मार्ग जाते हुए और पृथ्वी पर पड़े हुए मुख्य हार कटिसूत्र, कुण्डल आदि वरांग के आभूषणों को और कुँये से घोड़े के बर्तनोंको लेकर और कुँये के बीच में मरे हुये घोड़े को देखकर और युवराज को नहीं देखते हुये राजा के पास आये और राजा के आगे आभूषणोंऔर घोड़े के बर्तनों को दिखाया ॥६१-६३॥ राजा ने उसको देखकर दुगुना शोक किया, यह गाल पर रखे हुए हाथ वाला और आँसुओं से भरे नेत्रों वाला दीर्घ निःश्वास छोड़ता हुआ बार-बार शिर को धुनता हुआ रोते हुए निरुद्ध कण्ठ वाले इसने गद-गद युक्त विलाप किया ॥६४-६५॥ हे कुमार! हे कोमलांग! भूख प्यास से पीड़ित और घोड़े के द्वारा वन के मार्ग में ले जाये जाने वाले तुम्हारा क्या हुआ ॥६६॥ हा मैं दैव/भाग्य के द्वारा मारा गया हूँ मेरे व्यर्थ पौरुष को धिक्कार हो धिक्कार हो, आज मैं सभी शत्रुओं में उपहास्यता को प्राप्त हुआ हूँ ॥६७॥ हाय विधे! इस महापाप में तुम्हारे द्वारा मैं कैसे गिराया गया हूँ यह भयंकर पाप कर्म का उदय कुमार वरांग के कैसे उपस्थित हुआ ॥६८॥ हाँ राज्य के भार की धुरा को धारण करने वाले मैंतुम्हारे मुख को कहाँ देखूँ। मेरे गोत्र को पवित्र कर मुझे छोड़कर तुम कहाँ गये हो ॥६९॥ हाय-हाय कैसे खेद की बात है । इस प्रकार उस राजा ने बार-बार विलाप किया। मंत्रियों ने शीघ्र आकर राजा से कहा ॥७०॥ हे राजेन्द्र! इस समय तुम शोक मत करो, स्वस्थ चित्त होओ, तुम्हारे शोकाकुल होने पर सभी राजलोक शोकाकुल होता है ॥७१॥ शोक; सम्यग्ज्ञान के नाश के लिए है, शोक से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है, शोक से इन्द्रियों की हानि होती हैं इसलिए शोक को छोड़ना चाहिए ॥७२॥ पूर्वोपार्जित कर्म ही सुख, दुःख का कारण है इसमें हर्ष विषाद क्या करना क्योंकि कर्मों की गति अलंघनीय होती है ॥७३॥ हे नरपति राजन्! आप

जानासि सर्वशास्त्राणि, क्षमो बोधयितुं परं । कर्मणो वेत्सि वैचित्र्यं, खेदं किं कुरुषे नृप! ।।७४।।
एकयावस्थया कालः, सर्वः केनानुभूयते । किं न जानासि जीवेन, संसारावासवासिना ।।७५।।
अत्यन्ताक्रदनैर्मूर्खा, उरःशीर्षप्रताडनैः । केचिच्छोकं विमुञ्चन्ति धर्मेणैव विवेकिनः ।।७६।।
धर्माधर्मविवेकित्वात्, ज्ञानी ज्ञानविचक्षणः । कर्मोपढौकिते दुःखे, सुखे वा समतां भजेत् ।।७७।।
धैर्यं विपदि कर्तव्यं, साहसं समरांगणे । औदार्यं दानकाले च, ध्याने सज्ज्ञानमुत्तमैः ।।७८।।
इत्येवं बोधितो राजा, स्थित्वा शांतमनः क्षणम् । सस्नुषो जिन-वेश्मागात्सभार्यः शोक-शान्तये ।।७९।।
त्रिःपरीत्य जिनावासं, जिनं नत्वा मुनीनपि । निषद्य तत्पुरो धर्मं, शुश्राव मुनिभाषितम् ।।८०।।
अनाद्यनंतसंसार-सागरे सारवर्जिते । अनादिसान्ते जीवाश्च, भ्रमन्ति बहुयोनिषु ।।८१।।
प्रेरितो मोहमल्लेन, पञ्चेन्द्रिय-वशीकृतः । शुभाशुभानि कर्माणि, करोति किल चेतनः ।।८२।।
येनानुरागपूर्वं यत्, कर्म जीवेन चार्जितम् । अश्नाति तत्फलं लोके, स एवान्यो न निश्चयः ।।८३।।
पुत्रमित्रकलत्रादिस्वायत्तमिति चिंतयन् । तदर्थं कुरुते देही, नृभवे विभवार्जनम् ।।८४।।
देवाल्लब्ध्वा धनं भोगान्भुङ्क्तेऽसौ क्षणभङ्गुरान् । वियोगान्त-सुखान्पुत्र-कलत्रैर्मोहितोन्वहम् ।।८५।।

सभी शास्त्रों को जानते हो, दूसरों को समझाने के लिये समर्थ हो कर्मों की विचित्रता को जानते हो, फिर तुम खेद क्यों करते हो? ।।७४।। क्या तुम नहीं जानते हो कि संसार रूपी घर में रहने वाले जीव के द्वारा सम्पूर्ण काल एक अवस्था रूप से किसके द्वारा अनुभव किया जाता है अर्थात् किसी के द्वारा नहीं ।।७५।। कोई मूर्ख अत्यन्त आक्रन्दन के द्वारा छाती शिर के प्रताड़न के द्वारा शोक को छोड़ते हैं और विवेकी ज्ञानी-जन धर्म के द्वारा ही शोक को छोड़ते हैं ।।७६।। ज्ञान में चतुर ज्ञानी धर्म-अधर्म के विवेक से सहित होता है और कर्म के द्वारा उपस्थित सुख व दुख में समता को धारण करता है ।।७७।। उत्तम पुरुषों के द्वारा विपत्ति में धैर्य को, युद्ध स्थल में साहस को, दान के समय उदारता को, और ध्यान में सम्यग्ज्ञान को धारण करना चाहिए ।।७८।। इस प्रकार मंत्रियों के द्वारा समझाया गया राजा क्षण भर में शान्त मन से स्थित शोक शान्ति के लिए राजपत्नी सहित पुत्र वधुओंके साथ जिन मन्दिर गया ।।७९।। जिन मन्दिर की तीन परिक्रमा कर जिनेन्द्र भगवान और मुनियों को नमस्कार कर उनके सामने बैठकर मुनियों/प्रत्यक्ष-ज्ञानियों/तीर्थंकरों/अर्हन्तों के द्वारा कहे हुए धर्म को सुना ।।८०।। सार रहित अनादि अनन्त संसार रूपी सागर में अनादि शान्त रूप से बहुत योनियों में जीव भ्रमण करते हैं। अभव्यों की अपेक्षा संसार भ्रमण अनादि है भव्यों की अपेक्षा शान्त है ।।८१।। मोह रूपी मल्ल से प्रेरित और पाँचों इन्द्रियों के वशीभूत किया हुआ जीव नियम से शुभाशुभ कर्मों को करता है ।।८२।। जिसके अनुरागपूर्वक जो कर्म जीव ने अर्जित किया है, लोक में उसके फल को वह ही भोगता है, दूसरा नहीं यह निश्चय/वास्तविकता है ।।८३।। पुत्र, मित्र स्त्री आदि मेरे आधीन हैं, ऐसा चिन्तन करता हुआ प्राणी मनुष्य भव में, उनके लिए वैभव का अर्जन करता है ।।८४।। वह भाग्य से धन को प्राप्त कर क्षणभंगुर भोगों को भोगता है और पुत्र स्त्रियों से मोहित हुआ प्रतिदिन वियोग से अंत होने वाले सुखों को भोगता है ।।८५।। पुत्र और मित्रों के वियोग में मनुष्य क्लेश

वियोगे पुत्र-मित्राणां, क्लेशं कुर्वन्ति मानवाः । तत्सर्वं विद्धि भूपाल!, भवभ्रमणकारणम् ॥८६॥
पोषणार्थं स्वबन्धूनामन्यायेन धनार्जनम् । करोति यः एवैको, भुङ्क्ते तत्पाकजं फलम् ॥८७॥
नरं सुखिन-माश्रित्य, जंतवो भुंजते सुखम् । सेवते न क्षणं दुःखं, तथैकोऽपि च दुःखिनाम् ॥८८॥
शत्रुर्न कोऽपि कस्यास्ति मित्रं वा निश्चयान्नृणाम् । संयोज्यंते वियोज्यंते, स्वशुभाशुभ-कर्मणा ॥८९॥
सज्ज्ञानिभिः सुखे दुखे, विधेया समता ततः । त्यक्त्वात्मज-वियोगोत्थं दुःखं धर्मेमतिं कुरु ॥९०॥
इति श्रुत्वा मुनेर्धर्मं राजा राज्ञी स्नुषाश्च ताः । प्रशान्त-मनसः सर्वे, राजमंदिर-माययुः ॥९१॥
राजमंदिरमध्यैक-प्रदेशे जिनमंदिरं । कारयित्वा क्षितीशेन, स्थापितोऽत्र जिनेश्वरः ॥९२॥
समाहूय स्नुषाः सर्वा, इत्यादिष्टं महीभुजा । यूयं कुरुत दुःखघ्नं धर्ममत्र जिनालये ॥९३॥
कुर्वतीनां भवंतीनां धर्मं सर्वज्ञ-भाषितम् । धर्मप्रभावतोऽवश्यं, भावी प्रिय-समागमः ॥९४॥
धर्मोऽयं मत्कुलायातः, कर्तव्यः क्लेश-शान्तये । इत्याश्वास्य स्नुषा राजा सभामण्डपमाययौ ॥९५॥
श्वसुरोक्तमिति श्रुत्वा, तथेति प्रतिपद्य ताः । धर्मकर्मरता जाता, वराङ्ग-दयितास्ततः ॥९६॥
आहूय सचिवान्सर्वास्तैरालोच्य महीपतिः । सुषेणाय स्वपुत्राय, युवराज पदं ददौ ॥९७॥
युवराजपदं लब्ध्वा, सोपि पूर्णमनोरथः॥ राज्यं चकार निःशङ्को, विजितारातिमण्डलः ॥९८॥

को करते हैं। हे राजन्! उस सभी संक्लेश को भव भ्रमण का कारण जानों ॥८६॥ जो अपने बंधुओं के पोषण के लिये, अन्याय से धन को कमाता है, वह अकेला ही उस पाप से उत्पन्न फल को भोगता है ॥८७॥ सुखी मनुष्य को आश्रय कर प्राणी सुख को भोगता है और उसी तरह कोई एक भी दुखियों के दुख को क्षणभर भी सेवन नहीं करता ॥८८॥ निश्चय से मनुष्यों का कोई भी शत्रु नहीं है अथवा किसी का मित्र भी कोई नहीं है, अपने शुभ और अशुभ कर्म से संयोग और वियोग को प्राप्त होते हैं ॥८९॥ उस कारण से सम्यग्ज्ञानी के द्वारा सुख-दुःख में समता धारण की जानी चाहिये। पुत्र के वियोग से उत्पन्न दुख को छोड़कर धर्म में बुद्धि को करो ॥९०॥ इस प्रकार मुनिराज से सद्धर्म को सुनकर राजा, रानी और वे पुत्रवधुयें सभी प्रशान्त मन से राजमहल को आ गये ॥९१॥ राजा ने राजमन्दिर के बीच के एक प्रदेश में जिनमन्दिर को बनवाकर, उसमें जिनेश्वरदेव को स्थापित किया ॥९२॥ सभी पुत्र वधुओ को बुलाकर राजा ने इस प्रकार आदेश दिया यहाँ जिनालय में तुम लोग दुख को नष्ट करने वाले धर्म को करो ॥९३॥ सर्वज्ञ के द्वारा कहे हुए धर्म को करती हुई आप लोगों को धर्म के प्रभाव से अवश्य ही भविष्य में प्रिय पति का समागम होगा ॥९४॥ यह जैन धर्म मेरे कुल क्रम से आया है, क्लेश की शान्ति के लिए इस धर्म को करना चाहिए इस प्रकार राजा पुत्र वधुओं को समझाकर सभामण्डप में आया ॥९५॥ उसके बाद श्वसुर के द्वारा कहे हुए को सुनकर उन्होंने वैसा ही हो इस प्रकार कहकर वे वरांग की पत्नियाँ धर्म कार्य में लीन हो गईं ॥९६॥ राजा ने सभी मंत्रियों को बुलाकर उनसे विचार-विमर्श कर अपने पुत्र सुषेण के लिए युवराज पद दे दिया ॥९७॥ वह सुषेण भी युवराज पद को प्राप्त कर पूर्ण मनोरथ होता हुआ, जीता है शत्रुओं के समूह को जिसने ऐसे उसने शंका रहित राज्य को किया ॥९८॥ जो यह पृथ्वीमण्डल को

योऽसौ भूवलयं गुणैः सु-धवली कर्तुं क्षमोऽरिद्विय-
प्रध्वंसैक-मृगाधिपो निजकुलाम्भोजस्फुरद्भास्करः ।।
अश्वेनापि हतो वराङ्गनृपती राज्येऽस्य संस्थापितो।
लोके भूपतिना सुषेणनृपतिः, कष्टं विधेश्चेष्टितम् ।।९९।।
विज्ञाने विनये नये च निपुणं धैर्ये नृणामग्रिमं।
हेयाहेय-विचार-बुद्धिनिलयं, सौभाग्य-लब्ध्यास्पदम् ।।
सर्वस्याभिमतं सुवृत्तनिरतं, नित्यं वरांगाह्वयं।
तस्थौ चेतसि चिन्तयन्निजसुतं, श्रीधर्मसेनो नृपः ।।१००।।

इति श्रीपरवादि-दन्ति-पञ्चाननश्रीवर्द्धमानदेव-भट्टारक-विरचिते वराङ्गचरिते राजलोकान्तःपुरविलापो नाम सप्तमः सर्गः ।।

गुणों से अच्छी तरह धवल करने के लिए समर्थ है शत्रुरूपी हाथियों के लिये अद्वितीय सिंह के समान है, अपने कुल रूपी कमल को विकसित करने के लिए स्फुरायमान सूर्य है, घोड़े के द्वारा हरा गया भी वरांग राजा इस राज्य में स्थापित था। फिर लोक में राजा के द्वारा इस राज्य में सुषेण राजा स्थापित हुआ, कर्म की चेष्टा कष्ट रूप है ।।९९।। जो राजाओं के आगे विज्ञान में, विनय में, नीति में और धैर्य में निपुण, त्याग और ग्रहण के विचार की बुद्धि का स्थान, सौभाग्य की प्राप्त का स्थान सभी का अभिमत/मान्य, नित्य सदाचार में लीन वरांग नामक अपने पुत्र को चित्त में चिन्तन करते हुए राजा धर्मसेन अपना काल व्यतीत करने लगे ।।१००।।

इस प्रकार श्री परवादी रूपी हाथी के लिये सिंह स्वरूप श्री वर्धमान देव भट्टारक द्वारा विरचित वरांग चरित्र में राजलोक के अन्तःपुर में विलाप नामक सातवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

—00000—

अष्टमः सर्गः

अथास्ति मथुरापुर्या - मिद्रसेनो नरेश्वरः । अराति - मत्त - मातङ्ग - पञ्चानन - पराक्रमः ॥१॥
उपेन्द्रसेन - नामास्ति, पुत्रः शत्रु - भयङ्करः । तस्य प्रत्यर्थिभूपाल - सार्थ - सामर्थ्य - भेदकः ॥२॥
अवार्य - वीर्यावुद्दण्डा - वभिमान - धनावुभौ । हन्तारौ तावरातीना,-मिन्द्रसेनश्च तत्सुतः ॥३॥
सामन्तामात्य-संसेव्यौ, देश-कोश-बलाधिकौ । प्रताप-तापितारातीन्, राजानौ रेजतुः क्षितौ ॥४॥
कपोल- मण्डल - मद,- धारापूरित - भूतलं । भ्रमद् - भ्रमर - झङ्कार, - बधिरीकृत - दिङ्मुखं ॥५॥
कुञ्जरं राजवाह्यं श्री, देवसेनमहीपतेः । तौ शुश्रुवतु-रुत्तुङ्ग,-कायं भद्र-गजोद्भवम् ॥६॥युग्मम् ॥
बलाज्जिघृक्षुस्तं नागं, देवसेनाय निष्ठुरं । प्राहिणो-दिन्द्रसेनः स्वं, लेखं दूत-समन्वितम् ॥७॥
ललिताह्वं पुरं गत्वा, दूतोऽप्यल्प-दिनैर्नृपम् । देवसेनं नमस्कृत्य, तस्मै लेखं ददौ च तम् ॥८॥
उन्मुद्र्य - वाचयित्वासौ, विदितार्थो नरेश्वरः । तं साम - रहितं कोपाल्लेखं चिक्षेप भूतले ॥९॥
कीदृशो मथुराधीशो, को वा किं कथयत्यसौ । तन्मनोगत - माचक्ष्व, पप्रच्छेति वचोहरम् ॥१०॥
वचोहर उवाचेति, मथुरायां महाबली । इन्द्रसेन - महीपालो, दलितारि - कुलाङ्कुरः ॥११॥
ध्रियते यस्य पादार-विन्दं शिरसि राजभिः । महामानी महोद्योगी, पराखण्डितपौरुषः ॥१२॥

अथानन्तर मथुरा नगरी में शत्रु रूपी मत्त हाथियों के लिए सिंह के समान पराक्रमी इन्द्रसेन नाम का राजा था ॥१॥ उसका शत्रुओं के लिए भयंकर उपेन्द्रसेन नाम का पुत्र था। वह शत्रु राजाओं के समूह की सामर्थ्य का भेदन करने वाला था ॥२॥ इन्द्रसेन और उसका पुत्र वे दोनों शत्रुओं को नाश करने वाले अनिवारणीय/अभेद्य बल से उद्दण्ड मान रूपी धन वाले थे ॥३॥ सामंत मंत्रियों से अच्छी तरह सेवित देश, कोष और बल से अधिक प्रताप से सन्तापित किया है शत्रुओं को जिन्होंने ऐसे वे दोनों राजा पृथ्वी पर सुशोभित हुए ॥४॥ गण्डस्थल के मद की धारा से व्याप्त पृथ्वी तल वाले, घूमते हुए भौरों की झंकार से बधिर किया है दिशाओं के अग्रभाग को जिसने, ऐसे राजा की सवारी के योग्य भद्र हाथी से उत्पन्न ऊँचे शरीर वाले श्री देवसेन राजा के हाथी को उन दोनोंने (इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन ने) सुना ॥५-६॥ उस हाथी को जबरदस्ती ग्रहण करने के इच्छुक इन्द्रसेन ने, दूत से सहित निष्ठुर/दया से रहित/ कठोर अपने लेख को देवसेन के लिए भेजा ॥७॥ तथा दूत ने भी थोड़े दिनों के द्वारा ललित नामक पुर को जाकर देवसेन राजा को नमस्कार कर उनके लिए उस लेख को दिया ॥८॥ उस लेख को खोलकर एवं पढ करके जाना है अर्थ को जिसने ऐसे इस देवसेन राजा ने उस सार रहित लेख को क्रोध से पृथ्वी तल पर फेंक दिया ॥९॥ मथुरा का राजा कौन और कैसा है यह क्या कहता है और उसके मन का क्या अभिप्राय है, इस प्रकार राजा ने दूत से पूछा ॥१०॥ दूत ने इस प्रकार कहा, कि नष्ट किया है शत्रुओंके कुल रूपी अंकुरों को जिसने ऐसा मथुरा का महाबली इन्द्रसेन राजा है ॥११॥ जिसके चरण कमलों को राजाओं के द्वारा शिर पर धारण किया जाता है वह महामानी, महान उद्योगी, दूसरोंसे अखंडित पुरुषार्थ वाला पराक्रमी है ॥१२॥ इस समय वह तुम्हारे अप्रतिमल्ल नामक हाथी को माँगता है, अगर तुम अपना कल्याण चाहते

गज-मप्रतिमल्लाख्यं, याचते स तवाधुना । त्वया तस्मै स दातव्यो, यदि कल्याणमिच्छसि ॥१३॥
दूतोक्तं तद्वचः श्रुत्वा, देवसेनो जगाद तम् । गर्वितो मथुरेशः किं, न मे वेत्ति पराक्रमं ?॥१४॥
देश-कोश-वलै-रन्यान् स जित्वा नृपतीन् रणे । न वेत्ति मम सामर्थ्यं, निज-पौरुष-गर्वितः ॥१५॥
अकाल-मरणावाप्तौ, विवेक-विकलः कुधीः । करं प्रवेशयत्येष, सुप्तस्याहेर्मुखेऽधुना ॥१६॥
पित्तज्वरी कि-मुन्मादी, किं चायं ग्रह-पीडितः। वारणं यन्मया बाह्यं, बलात्स्वीकर्तु-मिच्छति ॥१७॥
मानहानिं परां प्राप्य, सम्प्राप्ते मथुरेश्वरः । स्पर्द्धायां क्रियमाणायां, मयि यास्यति हास्यताम् ॥१८॥
अलं बहूदितैर्दूत, यदि जीवितु-मिच्छसि । गच्छाचक्ष्व समस्तं मे, चेष्टितं निज-भूभुजे ॥१९॥
भीतो दूतस्तमानम्य, गत्वा स्वं पुर-मब्रवीत् । यथावदिन्द्रसेनाय, देवसेननृपोदितम् ॥२०॥
वचोहराननात्सर्वं, देवसेनं निशम्य सः । तद्वृत्ति-मिन्द्रसेनोऽपि, बभाषे रोष-रक्त-दृग् ॥२१॥
न दृष्टो न श्रुतो नैवानुभूतो मत्पराक्रमः । रटत्यतः सरोषोऽसौ, क्रोष्टेवाभिमृगाधिपम् ॥२२॥
देशं कोशं धनं धान्यं, गज-वाजि-रथादिकम् । रणाङ्गणेऽखिलं दत्वा, करिष्यति पलायनम् ॥२३॥
प्रचण्ड-युद्ध-शौण्डोऽहं, विजितारि-पराक्रमः । मया जिता रणे भूपा मम किंकरतां गताः ॥२४॥
स्वशक्तिं परशक्तिं च गर्वितो वेत्ति नो कुधीः । तस्मात्तन्मानभङ्गाय कर्तव्यो हि मयोद्यमः ॥२५॥

हों तो तुम्हारे द्वारा वह उसके लिए दे देना चाहिए ॥१३॥ दूत के द्वारा कहे गये उस वचन को सुनकर देवसेन ने उससे कहा, मथुरा का राजा घमण्डी है, क्या वह मेरे पराक्रम को नहीं जानता ॥१४॥ वह देश, कोष, और बल के द्वारा युद्ध में अन्य राजाओं को जीत कर अपने पराक्रम से गर्वोद्धत मेरी सामर्थ्य को नहीं जानता ॥१५॥ वह अकाल मरण की प्राप्ति में विवेक से रहित खोटी बुद्धि वाला इस समय सोते हुए सर्प के मुख में हाथ को डालता है ॥१६॥ और क्या वह पित्त ज्वर से पीड़ित है, क्या पागल है, अथवा ग्रह से पीड़ित है, जो मेरे द्वारा सवारी करने योग्य हाथी को बलपूर्वक स्वीकार करना चाहता है ॥१७॥ मेरे विषय में की जाने वाली स्पर्धा में मथुरा का राजा उत्कट मान हानि को प्राप्त कर उपहास को प्राप्त होगा ॥१८॥ हे दूत! बहुत कहने से क्या अगर तुम जीना चाहते हो तो जाओ मेरी समस्त चेष्टाओं को अपने राजा के लिए कहो ॥१९॥ भयभीत होते हुए दूत ने उस राजा को नमस्कार कर अपने नगर को जाकर देवसेन राजा के सन्देश को यथावत् ज्यों का त्यों इन्द्रसेन के लिए कहा ॥२०॥ दूत के मुख से देवसेन के सब सन्देश को सुनकर क्रोध से लाल आँखोंवाले उस इन्द्रसेन ने भी कहा ॥२१॥ सिंह के सामने सियार की तरह क्रोध से सहित इस देवसेन ने मेरा पराक्रम ना देखा है, न सुना है और ना ही अनुभव किया है, इसलिए यह ऐसा कहता है ॥२२॥ देश, कोश-खजाना, धन-धान्य हाथी, घोड़ा, रथ आदि इन सभी को युद्ध स्थल में देकर पलायन करेगा, भाग जायेगा ॥२३॥ मैं प्रचण्ड युद्ध में प्रवीण हूँ और जीते गये शत्रुओं में पराक्रम वाला हूँ अर्थात् पराक्रम से शत्रुओं को जीतने वाला हूँ, मेरे युद्ध में जीते गये राजा मेरी दासता को प्राप्त हुए हैं ॥२४॥ वह घमण्डी, दुर्बुद्धि, स्वशक्ति और परशक्ति को नहींजानता, इसलिए उसके मान भंग के लिए मुझे उद्यम करना चाहिए ॥२५॥ फल में कार्य प्रगटता को प्राप्त होता है,

व्यक्तिमेति फले कार्यं, वचोभिः कि-मनर्थकैः । इत्युक्त्वा दापयामामास, पुरे प्रस्थान-घोषणाम् ॥२६॥
शकुनैवार्यमाणोऽपि, क्लेश-नाश-फलप्रदैः । दत्तप्रयाणो भूपालो, नगराद्वहि-राययौ ॥२७॥
पुत्रा उपेन्द्रसेनाद्या इन्द्रसेन-महीपतेः । पदात्यश्व-रथेभेन, चेलुर्युद्धमहोद्धताः ॥२८॥
अङ्गा वङ्गाः कलिंगाश्च काश्मीराः केरलादयः । भूपाला मथुरेशस्य पक्षमाश्रित्य निर्ययुः ॥२९॥
इन्द्रसेनः समं भूपैः, सेनासागर-मध्यगः । देवसेन-महीपालस्योपरि प्रस्थितः क्रुधा ॥३०॥
अखंडितप्रयाणैः स्वं, देशमन्यान्व्यतीत्य च । देशान् श्रीदेवसेनस्य, देशसीमां विवेश सः ॥३१॥
गुडे तैले घृते धान्ये, द्विपदेऽस्य चतुःपदे । धने व्यपहते देशो, ननाश मथुरेशिना ॥३२॥
कुर्वाणे देशनाशेऽस्मिन्स्वधनादीनि च प्रजाः । वस्तूनि च समादाय, ललिताह्वपुरं गताः ॥३३॥
देवसेनस्तमायातं, मत्वा गत्वा पुराद्वहिः । विलोक्य बहुलं सैन्यं, व्याघुट्य पुर-माविशत् ॥३४॥
तद्दुर्गं प्रतिदुर्गेण, वेष्टितं खातिकान्वितम् । तोरणाद्यलिकोपेतं, तृण काष्ठांबु-पूरितम् ॥३५॥
शिला-गोलक-सम्पात-यन्त्रराजि-विराजितम् । निविष्टो दुर्ग-मावेष्ट्य, मथुरेशो महाबली ॥३६॥
दुर्भेद्यं दुर्ग-मायोद्धु-मशक्यं सर्वतो बहिः । रक्षितं देवसेनेन, [1]निरुध्यास्तं पुरं नृपः ॥३७॥
देवसेनः समाहूय, पप्रच्छेत्थं स्वमंत्रिणः । कथयन्त्वत्र किं कुर्मो, रिपु-रेष महाबली ॥३८॥

१. निरुध्य तं।

निरर्थक वचनों से क्या प्रयोजन, इस प्रकार कहकर नगर में युद्ध प्रस्थान की घोषणा को दिलवाया ॥२६॥ क्लेश वा नाश के फल को देने वाले शकुनोंके द्वारा निवारण/रोका जाने वाला भी किया है प्रयाण/प्रस्थान को जिसने ऐसा वह राजा नगर से बाहर आ गया ॥२७॥ इन्द्रसेन राजा के युद्ध में महाउद्धत उपेन्द्रसेन आदि पुत्र, पैदल-सैनिकों, घोड़े, रथों व हाथियों के साथ में चले ॥२८॥ अंग (चम्पापुर), बंग (बंगाल), कलिंग (उड़ीसा), काश्मीर और केरल आदि के राजा मथुरा के राजा के पक्ष का आश्रय कर निकले ॥२९॥ सेना रूपी सागर के मध्य को प्राप्त इन्द्रसेन ने राजाओं के साथ क्रोधित होते हुए देवसेन राजा के ऊपर प्रस्थान किया ॥३०॥ निरन्तर प्रयाणों के द्वारा अपने अपने देश और अन्य देशोंको पार कर उस इन्द्रसेन राजा ने श्री देवसेन के देश की सीमा में प्रवेश किया ॥३१॥ गुड़, तेल, घी, धान्य, दासी-दास, हाथी, घोड़े, बैल, गाय और धन के चुरा लेने पर मथुरा पति ने इस देवसेन के देश को नष्ट कर दिया ॥३२॥ देश नाश किये जाने पर इसमें रहने वाली प्रजा अपने धनादि वस्तुओं को ग्रहण कर ललित नामक पुर की ओर चली गयी ॥३३॥ वह देवसेन उस इन्द्रसेन को आया हुआ मानकर नगर से बाहर जाकर बहुत सेना को देख लौटकर नगर में प्रवेश कर गया ॥३४॥ उसका दुर्ग, दूसरे दुर्ग से घिरा हुआ, खाई से सहित था, तोरण आदि की पंक्ति से सहित घास, लकड़ी और पानी से भरा हुआ था ॥३५॥ शिलाओं के गोलों को गिराने के यंत्रों की पंक्ति से सुशोभित दुर्ग को घेर कर महाबली मथुरापति बैठा है,वह बाहर सब ओर से दुर्भेद्य, युद्ध करने में अशक्य, देवसेन राजा के द्वारा रक्षित उस नगर दुर्ग को इन्द्रसेन राजा ने सब तरफ से रोक लिया ॥३६-३७॥ देवसेन राजा ने अपने मंत्रियोंको बुलाकर इस प्रकार पूछा—कि

निविष्टो पुर-मावेष्ट्य, महत्या सेनया बलात् । कथ-मुत्थापनीयोऽय-मस्माभिर्दुर्ग-मध्यगैः ।।३९।।
सुनीति-र्विनयाह्वश्च, सुमन्त्री विजयोऽपि च । चत्वारः सचिवा एते, विचारचतुराश्चिरम् ।।४०।।
विचार्य बहुधा स्वामिकार्यमन्योन्यमादरात् । जगदुर्मत्रिणो भूप! लघूपायहितैषिणः ।।४१।।
गजं यदींद्रसेनेन देहीत्यादिष्टमाग्रहात् । पुरा ते भूपते! साम-दानयोर्वासरो गतः ।।४२।।विशेषकं।।
केवलं दीयमानेन दंतिना याति नोऽधुना । यतोऽसौ दुर्जयः शत्रुः पुरमावेष्ट्य संस्थितः ।।४३।।
सर्वस्व-मपहृत्यास्मान्,वशीकृत्य स्वशक्तितः । राज्यतो वा समुन्मूल्य, स्वदेशं गन्तुमिच्छति ।।४४।।
एष कालो गतो देव!, वर्तते दण्डभेदयोः । जेतव्यो दण्डभेदाभ्यामिन्द्रसेनो रणे त्वया ।।४५।।
मन्त्रभेदाद्वशीकृत्य, तत्समीपस्थ-भूभुजः । अवश्यं नाथ! जेष्यामो, रणे कृत्वा कदर्थनं ।।४६।।
अयोध्याधिपतिर्वीर, सेननामा महीपतिः । इन्द्रसेनाद् वलिष्ठोऽस्ति, देशकोषबलैरपि ।।४७।।
आनीयते चेदस्यो,परिष्टाद्बहुधनव्ययम् । विधायामुं च संसाध्यास्मान्वशीकृत्य यास्यति ।।४८।।
स चेत्परोपकारार्थं, देशस्योपप्लवं च नो । निवार्य याति निर्घाट्य, मथुरेशं तदा कृतिः ।।४९।।
इन्द्रसेनं रणे जित्वा, चास्मासु प्रतिकूलतां । यात्यसौ कः प्रतीकारः, कर्तव्योऽस्माभिरत्र च ।।५०।।
अतोऽलं परसामर्थ्य-सहायपरिचिन्तया। जेष्यामो वयमेवास्तु, महो स्वभुजविक्रमात् ।।५१।।

कहो हम लोग क्या करें, यह शत्रु महाबलवान है ।।३८।। वह बहुत बड़ी सेना से सहित बलपूर्वक नगर को घेरकर ठहरा है, दुर्ग के मध्य रहते हुए हम लोगों के द्वारा यह कैसे हटाया जाये ।।३९।। स्वामी के कार्य को परस्पर में आदरपूर्वक चिरकाल तक बहुत प्रकार से विचार कर शीघ्र उपाय से हित को चाहने वाले सुनीति, विनय, सुमंत्री और विजय नाम के इन चारों मंत्रियों ने राजा से कहा--हे राजन्! यदि तुमसे पहले इन्द्रसेन के द्वारा हाथी को देओ, इस प्रकार आग्रह पूर्वक कहा गया था तो हे राजन्! वह साम और दान/दाम का अवसर गया ।।४०-४२।। इस समय यह दुर्जय शत्रु सिर्फ हाथी को देने मात्र से वापिस नहींजायेगा, क्योंकि यह नगर को घेरकर स्थित है ।।४३।। हम लोगों को अपनी शक्ति से वश में कर, सब धन को हरण कर और राज्य से भ्रष्ट कर वह अपने देश को जाना चाहता है ।।४४।। हे देव! साम व दान/दाम का समय निकल गया, यह काल; दण्ड और भेद का हैं, दण्ड और भेद के द्वारा तुम्हें युद्ध में इन्द्रसेन को जीतना चाहिए।।४५।। हे राजन्! उसके समीप में स्थित राजाओं को मंत्रभेद से अपने वश में कर अवश्य ही हम रण में युद्ध करके जीतेंगे ।।४६।। अयोध्या का अधिपति वीरसेन नामक राजा देश, कोष और बल में भी इन्द्रसेन से अधिक बलशाली है ।।४७।। अगर इसको उसके ऊपरबुलाते हैं, तो बहुत धन खर्च होगा, हम लोगों को अधीन कर और सन्धि कराकर चला जायेगा ।।४८।। अगर वह परोपकार के लिए हमारे देश के उपद्रव को निवारण कर और मथुरापति को वापिस लौटा कर जाता है तब तो वह पुण्यात्मा उत्तम पुरुष है ।।४९।। इन्द्रसेन को रण में जीतकर, यह अयोध्यापति हम लोगों से प्रतिकूलता को प्राप्त होता है, तो हम लोगों के द्वारा इस विषय में क्या प्रतीकार किया जाना चाहिए।।५०।। इसलिए हम लोगों को दूसरों के सामर्थ्य की सहायता की चिन्ता से बस करना/रहित होना चाहिए अर्थात्

रणे मरणसन्देहोऽस्त्यरणे मरणं ध्रुवम् । सन्देहास्पद-मालम्ब्य, कार्यं युद्ध-मतोऽरिणा ।।५२।।
संत्यस्मिन्विषये लोका, रणशूरा महाधनाः । बहिः सहायतां यान्तु, समेत्य समर-क्षणे ।।५३।।
शूरा एते त्वया सार्ध-मायान्तु पुरवासिनः । जनाः संनह्य युद्धार्थं, सामन्ता मन्त्रिणोऽपि च ।।५४।।
अस्ति कश्चिद्भटः श्रेष्ठि, नाथोऽरण्येऽत्र निर्जिता । रणे येन किरातानां, त्रिसहस्त्री चतुर्गुणा ।।५५।।
अद्वितीय-सहायोऽयं, जिगाय शबरान्रणे। कश्चिद्भटः स भूपाल!, तवायातु सहायताम् ।।५६।।
एतदस्मद्वचो युक्तियुक्तं वैचिन्त्य चेतसि । सङ्ग्रामायोद्यमं राजन्विधेहि रिपुणां द्रुतम् ।।५७।।
ऐश्वर्यं धनमायुश्च, शरीरं न स्थिराण्यमी । स्थिरमेकं यशो लोके, यतस्व यशसे ततः ।।५८।।
तथेति प्रतिपद्यासौ, संपूज्य सचिवान्निजान् । युद्धार्थं दापयामास, पुरे पटह-घोषणाम् ।।५९।।
प्राप चिन्तामिति स्वस्य, श्वसुरस्य पुरं तदा । वेष्ठितं रिपुसैन्येन, वीक्ष्य कश्चिद्भटोऽपि च ।।६०।।
अयं मे मातुलः साक्षाद् देवसेनस्ततो मया । सहायता विधातव्या, व्यसनेऽस्मिन्नुपागते ।।६१।।
सहायमस्य यत्कार्यं दूत-मभ्येत्य बन्धुना । विधेयं तन्मया गुप्त,-वृत्तिनासन्न-वासिना ।।६२।।
युक्तं मे मातुलस्याग्रे, न स्व-वंश-प्रकाशनम् । यथा वंशः स्वयं ख्याति-मेति कुर्वे तथा रणम् ।।६३।।
ततो भूत्वा प्रसिद्धोऽहं विधाय जन-रक्षणम् । पूजितो देवसेनेन, गमिष्यामि स्वपत्तनम् ।।६४।।

दूसरों की अपेक्षा नहीं करना चाहिए और हम ही अपने प्रताप व अपनी भुजाओं के पराक्रम से शत्रुओं को जीतेंगे ।।५१।। युद्ध में मरण का सन्देह है, किन्तु युद्ध न करने पर भी मरण निश्चित है, इसलिए हमें सन्देह के स्थान का अवलम्बन कर, शत्रुओं के साथ युद्ध करना चाहिए ।।५२।। इस देश में, युद्ध में, शूरवीर, महाधनी बहुत लोग हैं । वे युद्ध के समय पास में आकर बाहरी सहायता को प्राप्त होंगे ।।५३।। ये शूरवीर नगरनिवासी लोग युद्ध के लिए तैयार होकर तुम्हारे साथ आएँ और सामन्त व मंत्रीगण भी आएँ ।।५४।। हे राजन्! सेठों का नाथ कोई 'कश्चिद्भट' है यहाँ जिसने जंगल के युद्ध में बारह हजार भीलों को जीता है ।।५५।। यह अद्वितीय सहायक है,वह तुम्हारी सहायता को आवे ।।५६।। हे राजन्! युक्तियुक्त यह हमारा वचन चित्त में विचार कर शत्रुओं के साथ संग्राम के लिए शीघ्र उद्यम करो ।।५७।। ये ऐश्वर्य, धन, आयु और शरीर स्थिर नहीं हैं । लोक में एक यश ही स्थिर है, इसलिए यश के लिए प्रयत्न करो ।।५८।। इस राजा ने वैसा ही हो, इस प्रकार कहकर अपने मंत्रियों का आदर-सत्कार करके नगर में युद्ध के लिए पटह घोषणा को दिलवाया ।।५९।।तब अपने ससुर के नगर को शत्रु सेना से घिरा हुआ देखकर कश्चिद्भट भी इस प्रकार चिन्ता को प्राप्त हुआ ।।६०।। यह देवसेन राजा मेरा साक्षात् मामा है, इसलिए इस संकट के प्राप्त होने पर मुझे इसकी सहायता करना चाहिए ।।६१।। इसकी जो सहायता करना चाहिए वह मुझ निकट निवासी बन्धु/संबंधी के द्वारा गुप्त रीति से करना हैं ।।६२।। मुझे मामा के आगे अपने वंश का प्रकाशन ठीक नहीं है मैं उस तरह युद्ध करूँ जिससे वंश स्वयं ख्याति को प्राप्त हो ।।६३।। उससे मैं प्रसिद्ध होकर जन संरक्षण करके देवसेन राजा के द्वारा सम्मानित होता हुआ, अपने नगर को जाऊँगा ।।६४।। यह समय परोपकार का, प्रजा के संरक्षण का और पराक्रम के दिखाने का है क्योंकि

कालः परोपकारस्य, प्रजासंरक्षणस्य च । पौरुषस्यायमेवं हि, यशसो धर्म-कारणम् ॥६५॥
यावत्कश्चिदभटश्चैवं, चिंतयन्नात्मचेतसि । शुश्राव वाद्यमानाया, घोषणाया ध्वनिं पुरे ॥६६॥
किमर्थं दापिता राज्ञा, घोषणा कथ्यतां मम । इति पृष्टा नरा ऊचुः स्वस्वामि-हित-कांक्षया ॥६७॥
सन्नह्याद्य स्वयं राजा, यात्यराति-जिगीषया । सहायतां नराः शूरा, आयांतु पुरवासिनः ॥६८॥
वृद्धयै धर्मार्थ-कामाना-मवाप्त्यै कीर्ति-पुण्ययोः । हिताय स्वामिनो युद्धं, विधेयं सति पौरुषे ॥६९॥
इति श्रुत्वा वचस्तेषां, समं सागर-वृद्धिना । विचार्य प्रेषितस्तेनाप्ययमेव नृपान्तिकम् ॥७०॥
गत्वा नत्वा महीपाल-मब्धिवृद्धिर्जगाविति । नाथ! कश्चिद्भटस्तेऽद्य, सहायं कर्तुमिच्छति ॥७१॥
राजोवाच गुणास्तस्य, ह्युदारा भुवि विश्रुताः । प्रागस्माभिर्बहूक्तैः किं, श्रेष्ठिनाहूयतां स च ॥७२॥
भूपालादेशतः श्रेष्ठी, गत्वा कश्चिद्भटान्तिकम् । तस्मै निवेद्य भूपोक्तं, तं निनाय नृपान्तिकम् ॥७३॥
स्वसमान-वणिक्पुत्रैर्वेष्टितः स नृपान्तिकम् । एत्य नत्वा तदादिष्टे, निषसादोचितासने ॥७४॥
बालादित्य-प्रभं नाना-रत्नाभरण-भूषितम् । क्षात्रं तेजो दधानं तं, सर्वावय-सुंदरम् ॥७५॥
दृष्ट्वा विचिंतयामास, देवसेनः सविस्मयः । वणिक्पुत्र-ममुं लोकाः, कथयन्त्यनृतं वचः ॥७६॥
विद्याधरोऽमरो वासौ, विद्या-सामर्थ्य-लीलया । वणिग्रूपेण मा-मत्र, विस्मापयितु-मागतः ॥७७॥

इस प्रकार वह पराक्रम यश वा धर्म का कारण है ॥६५॥ जब तक अपने मन में कश्चिद्भट इस प्रकार चिन्तन/विचार कर रहा था, तब ही नगर में बजती हुई घोषणा की ध्वनि को सुना ॥६६॥ राजा के द्वारा किसलिए घोषणा दिलाई जा रही है मुझे कहो, इस प्रकार पूँछे गये मनुष्य अपने स्वामी के हित की इच्छा से बोले ॥६७॥ राजा स्वयं तैयार होकर, शत्रु को जीतने की इच्छा से जा रहे हैं, नगर निवासी शूर वीर नर सहायता को आवें ॥६८॥ धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों की वृद्धि के लिए कीर्ति और पुण्य की प्राप्ति के लिए स्वामी के हित के लिए, पुरुषार्थी को पुरुषत्व के होने पर युद्ध करना चाहिए ॥६९॥ इस प्रकार उन मनुष्यों की बात सुनकर सागरवृद्धि के साथ विचार कर उस कश्चिद्भट ने सागरवृद्धि सेठ को ही राजा के पास भेज दिया ॥७०॥ सागरवृद्धि ने राजा के पास जाकर नमस्कार कर इस प्रकार कहा हे नाथ! आज कश्चिद्भट तुम्हारी सहायता करना चाहता है ॥७१॥ राजा ने कहा उसके उदार गुण पृथ्वी पर प्रसिद्ध हैं, पहले हम लोगों ने बहुत कहा, कि सेठ के द्वारा वह बुलाया जाय ॥७२॥ राजा के आदेश से सेठ कश्चिद्भट के पास जाकर राजा के द्वारा कहे हुए को उसके लिए कहकर, उसको राजा के पास ले गया ॥७३॥ अपने समान वणिक पुत्रों से घिरा हुआ वह कश्चिद्भट (वरांग) राजा के पास जाकर नमस्कार कर उनके द्वारा कहे हुए उचित आसन पर बैठ गया ॥७४॥ बाल सूर्य के समान प्रभा वाले, अनेक रत्नालंकारों से विभूषित, क्षत्रिय सम्बन्धी तेज को धारण करने वाले, सभी अवयवों से सुन्दर उस कश्चिद्भट को देखकर विस्मय से सहित, देवसेन ने विचार किया कि इसको लोग वणिक्पुत्र कहते हैं, यह वचन झूठ है ॥७५-७६॥ यह विद्याधर है अथवा देव है, विद्या की सामर्थ्य से लीला पूर्वक व्यापारी के रूप से मुझे विस्मय उत्पन्न कराने के लिए यहाँ आया है ॥७७॥ किसी कारण से यह कोई

केनचित्कारणेनायं, कोऽपि भूपाल-नन्दनः । गुप्तवृत्त्या वसत्यस्मिन्, मत्पुरे वणिजो गृहे ॥७८॥
मद्भागिनेयो यः पुत्रो, धर्मसेन-महीपतेः॥ श्रूयते वाजिनानीतो, दूरदेशं स नैष किम्॥७९॥
सङ्कटे पतितस्यारेर्विचारेणामुनाधुना । अलं ममेति निश्चित्य तमाह ललितेश्वरः॥८०॥
श्रुतास्तव गुणा भद्र!, पूर्व-मस्माभि-रद्भुताः । तथाप्यतिशयस्नेहं, त्वयि बध्नाति मे मनः॥८१॥
पश्चात्कुर्मो वयं भद्र!, विचारं स्नेहकारणम् । चिन्तयामोऽधुनोपायं, शत्रुपक्षक्षयावहम्॥८२॥
प्रीतोऽस्मि तव शौर्येण, किराताताङ्क-भेदिना । साम्प्रतं साधनं मेऽरिविध्वंसोपाय-चिन्तनम्॥८३॥
अस्मिन्महाहवे शत्रून्यदि जिघां (सुः) ममेष्यसि । सुनंदा-मर्धराज्येन दास्येऽहं च निजां सुताम्॥८४॥
कश्चिद्भट उवाचेति, नाथ! राज्येन कन्यया । किं करिष्ये धनेनापि, नाभिलाषोऽस्ति तेषु मे॥८५॥
यशोऽतिनिर्मलं पुण्यं, श्रेयोमार्ग-प्रकाशकम् । वाञ्छामि तव संसर्गान्नृपाखण्डितपौरुषम्॥८६॥
युद्धं त्व-मुद्धतेऽराता,-विहामुत्र यशःप्रदं । विधेहि धरणीपाल!, यशसा पूरयावनिं॥८७॥
इत्येतौ कुरुतो यावद्, भाषणं नृपती मिथः । शूराः संनह्य सर्वेऽपि, राजद्वार-मुपागताः॥८८॥
संनह्यत शशासेति, सर्वानाहूय भूपतिः । सामन्तान्दण्डनाथांश्च, मन्त्रिणः सुभटांस्ततः॥८९॥
भूषणैर्विविधैर्वस्त्रै-र्नृपदत्तै-रलङ्कृतः । गज-मप्रतिमल्लाख्य-मारुढो धर्मसेनजः॥९०॥

राजपुत्र गुप्तरीति से इस मेरी नगरी में सेठ के घर रहता है ॥७८॥ धर्मसेन राजा का जो पुत्र मेरा भानजा है वह घोड़े के द्वारा दूर देश को ले जाया गया सुना जाता है क्या यह वही तो नहीं है ॥७९॥ इस समय शत्रु के संकट में पड़े हुए इसके विचार से मुझे वश करना अर्थात् विराम लेना चाहिए ऐसा निश्चय कर ललितपुरपति ने उसको कहा ॥८०॥ हे भद्र! पहले हमारे द्वारा तुम्हारे अद्भुत आश्चर्यकारी गुण सुने गये हैं तो भी तुम में मेरा मन अत्यधिक प्रेम को बाँधता है ॥८१॥ हे भद्र! हम स्नेह के कारण के विचार को बाद में करेंगे इस समय शत्रु के पक्ष के क्षय करने वाले उपाय का चिन्तन करते हैं ॥८२॥ भीलों के आतंक भेदने वाले तुम्हारे शौर्य/शूरवीरता से मैं प्रसन्न हूँ इस समय मेरा साधन शत्रुओं के विनाश के उपाय का चिन्तन है ॥८३॥ अगर इस महायुद्ध में तुम शत्रुओं का विनाश करोगे तो मैं अपनी पुत्री सुनंदा और आधे राज्य को दूँगा ॥८४॥ कश्चिद्भट ने कहा हे नाथ! राज्य से, कन्या से, और धन से भी क्या करेंगे मेरी उनमें अभिलाषा नहीं हैं ॥८५॥ हे राजन्! आपके संसर्ग से में अति निर्मल पुण्य रूप श्रेयो मार्ग (कल्याण का पथ) के प्रकाशक यश को और अखण्डित पराक्रम को चाहता हूँ ॥८६॥ हे राजन्! तुम इस लोक और परलोक में यश को देने वाले उद्यत शत्रुओं में युद्ध को करो और पृथ्वी को यश से पूर्ण करो ॥८७॥ इस प्रकार जब तक राजा व कश्चिद्भट ये दोनों परस्पर में भाषण करते हैं, तब तक सभी शूरवीर तैयार हो राजद्वार को प्राप्त हुए अर्थात् राजद्वार पर आ गये ॥८८॥ उसके बाद राजा ने सभी सामंतों, दण्डनायकों, मंत्रियों और सुभटों को युद्ध के लिए तैयार होने की आज्ञा की ॥८९॥ धर्मसेन राजा का पुत्र वरांग, राजा के द्वारा दिये हुए अनेक प्रकार के आभूषणों और वस्त्रों से अलंकृत अप्रतिमल्ल नामक हाथी पर सवार हुआ ॥९०॥ शत्रु समूह के नाश के लिए अपने स्वामी की विजय की इच्छा से

प्रत्यर्थि-सार्थ-नाशाय, स्वस्वामि-जयवांछया । विजयोऽरिंजयं नाग-मारुरोह महाबली ॥९१॥
मंत्रिणोऽन्ये चमूनाथाः, सामंताः सुभटा नराः । लब्ध-भूपाल-सन्माना, नागारुढाः प्रतस्थिरे ॥९२॥
केचित्तुरङ्गमारुढा, केचिद् द्विरद-वाहनाः । क्रोधारुणेक्षणाश्चेलुः स्वामि-सन्मान-मंडनाः ॥९३॥
सन्मान्य सकलानन्यान्, भृत्यान्भूयो यथोचितम् । सुकल्पितं समारुह्य, स चचाल रिपुं प्रति ॥९४॥
तावद्राष्ट्रजनाः सर्वे, स्वयोग्यायुध-वाहनाः । सहायं कर्तुमायाता, देवसेन-निजप्रभोः ॥९५॥
फलमृण्मयगोलादीन्गृहीत्वेयुः कृषीवलाः । रणाङ्गणं महावीरा, गोपाला लकुटायुधाः ॥९६॥
ससन्नाह-शिरस्त्राणा धीरा वीराः पदातयः॥ कोप-कम्पितसर्वांगा, निर्गता भूपतेः पुरः ॥९७॥
समं हेषारवैः स्कन्धान्दुधुवुर्वाजिनस्तथा । गजा जगर्जुः प्रोत्तुंगा, निषादध्वनिभूषणाः ॥९८॥
खड्ग-खेटक-कोदण्ड-गदा-मुद्गर-पाणयः । सर्वे वीरा नराः कुन्त-त्रिशूलादीन्यनेकशः॥९९॥
शत्रुत्रास-विधायीनि शस्त्राण्युद्धृत्य वेगतः। क्व यास्यतीन्द्रसेनोऽद्य, वदन्तो मिलिता रणे ॥१००॥युग्मं॥
भेरी-मृदङ्ग-कंसाल-काहला-शङ्ख-वेणवः । ढक्का-पणव-तूर्याणि, शृङ्गाणि पटहादयः ॥१०१॥
अराति-जाति-संक्षोभं, कुर्वन्तो गगनं स्वनैः । पूरयन्तस्तरां रेजुर्वाद्यमाना नरै-रिह ॥१०२॥
इन्द्रसेनः समागच्छद्बलं दृष्टवास्य भूपतेः । संनह्यत शशासेति, युद्धाय स्वभटान् नृपः ॥१०३॥
अन्योन्यं युद्धसंन्नद्ध-योधव्याप्त-दिगन्तयोः॥ सङ्घट्टः सेनयोरासीद्देवसेनेन्द्र-सेनयोः ॥१०४॥

महाबली विजय मंत्री, अरिंजय हाथी पर सवार हुआ ॥९१॥ अन्य मंत्री सेनापति सामन्त सुभट नर (वीरपुरुष) राजा से सम्मान प्राप्त कर हाथी पर सवार होकर निकले/प्रस्थान किया ॥९२॥ स्वामी के सम्मान से सम्मानित लाल नेत्र वाले कोई योद्धा घोड़े पर सवार, कोई हाथी पर सवार होकर युद्ध के लिए चले ॥९३॥ वह राजा यथोचित/यथायोग्य अन्य सभी सेवकों का सम्मान करके, सुकल्पित हाथी पर सवार होकर शत्रु की ओर चला ॥९४॥ तब तक अपने योग्य आयुध और वाहन वाले सभी राष्ट्र के लोग अपने राजा देवसेन की सहायता करने के लिए आ गये ॥९५॥ कृषक लोग फल और मिट्टी के गोला आदि को ग्रहण कर लाठी के आयुध वाले शूरवीर गोपाल और तैयारी के साथ शिर पर टोप को धारण करने वाले, क्रोध से कम्पित सर्वांग वाले धीर-वीर पैदल सैनिक राजा के सामने से युद्धस्थल के लिए निकले ॥९६-९७॥ तथा हिनहिनाहट की आवाजों के साथ घोड़े कंधोंको कंपाने लगे, निषाद ध्वनि है आभूषण जिनका ऐसे बहुत ऊँचे हाथी गरजने लगे ॥९८॥ तलवार, खेटक, धनुष, गदा और मुद्गर हाथ में जिनके ऐसे सभी शूरवीर मनुष्य; भाला, त्रिशूल आदि अनेक प्रकार से शत्रुओंको त्रास देने वाले शस्त्रों को शीघ्रता से ऊपर उठाकर, आज इन्द्रसेन कहाँ जायेगा, ऐसा बोलते हुए युद्ध मे मिलें ॥९९-१००॥ मनुष्यों द्वारा बजाए जाने वाले भेरी, मृदंग, कंसाल काहला, शंख, वीणा, ढक्का, पणव, तूर्य, शृंग और पटह आदि वाद्य शत्रु की जाति को क्षोभ करते हुए ध्वनि से आकाश को भरते हुए, अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे ॥१०१-१०२॥ इस देवसेन राजा की आती हुई सेना को देखकर इन्द्रसेन राजा ने अपने सैनिकों को युद्ध के लिए तैयार होने की आज्ञा दी ॥१०३॥ युद्ध के लिए तैयार योद्धाओं से व्याप्त दिशाओं वाली देवसेन और इन्द्रसेन की सेनायें परस्पर में एक-दूसरे से भिड़ गई ॥१०४॥ उसके बाद नगर के बाहर

युद्धाय रचयित्वा तौ स्थितौ व्यूहौ स्वसैन्ययोः । पुराद्वहिर्महीपालौ बद्धकोपौ रणोद्धतौ ॥१०५॥
इयाय दन्तिनं दन्ती तुरङ्गस्तुरङ्गं प्रति । रथो रथं पदातिं च, पत्तिर्योद्‌धुं ततस्तयोः ॥१०६॥
धनुर्मुक्तशरैस्तीक्ष्णैश्छादयन्ति स्म भूतलम् । वीराः सलिल-धाराभिः कल्पान्तजलदा इव ॥१०७॥
अर्धचन्द्रशरैश्छिन्नस्वर्णपुङ्खपरैर्बभौ । मही कृतोपहारेव, हिमाम्भोजै-रितस्ततः ॥१०८॥
आकर्णाकृष्ट-कोदण्ड-प्रेरिताः शित-सायकाः । भित्वा वक्षांसि शत्रूणां, शोणितानि पपुः परम् ॥१०९॥
युद्ध-सन्नाह-वक्षांसि, शत्रूणां निशिताः शराः । भित्वा निपात्य प्राक्पुंसः, पश्चात् ते पतिता भुवि ॥११०॥
केचिदुत्सारयन्ति स्मागच्छतः सम्मुखं शरान् । करस्थ-खेटकै-र्वीरा, निर्भयाः रणमण्डले ॥१११॥
वामहस्तस्थितैः खेटैर्वा णानुत्सार्य पत्तयः । खड्गै-रितर-हस्तस्थै-रुद्धता योद्धु-मुद्यताः॥११२॥
हस्ताद्यवयवान् शूराच्छिन्दन्तः खड्गपाणयः । कृतान्त इव साक्षात्ते सर्वेरेजू रणाङ्गणे ॥११३॥
केचित्करिकरं धृत्वा, कराभ्यां करि-मस्तकम् । आरुह्य तत्समारुढा वीराञ्घ्नुर्महोजसः॥११४॥
स्वदन्त-मूल-सन्नद्ध-शृङ्खला-लोह-गोलकैः । हता महागजैर्दूरं, व्रजन्ति रिपुदन्तिनः ॥११५॥
गजारुढा भटा बाण-विद्धा रक्तव्रणाङ्किताः । विभान्ति गिरिकूटस्थपलाशा इव पुष्पिताः ॥११६॥
खण्डितैः खड्ग-धाराभिर्नरताश्वैश्च शत्रुभिः । व्रणोत्थ-शोणिते नाभूत्पृथिव्यां शोणितार्णवः ॥११७॥

क्रोध से बद्ध रणोद्धत उन दोनों राजाओं ने उन अपनी-अपनी सेनाओं में युद्ध के लिए व्यूहों को रचकर हाथी वाले हाथी से, घोड़े वाले घोड़े से, रथ वाले रथ से, पैदल वाले पैदलों से युद्ध को निकले ॥१०५-१०६॥ जल की धाराओं से कल्पान्त काल के बादलों की तरह वीर पुरुष धनुष से छोड़े हुए तीक्ष्ण बाणों के द्वारा पृथ्वी तल को ढँक रहे थे ॥१०७॥ अर्ध चन्द्र नाम के बाणोंद्वारा कटे हुए स्वर्ण के बाणोंके पंख भाग से उत्कृष्ट बर्फ के कमलों द्वारा किये गए उपहार (भेंट) के समान पृथ्वी इधर-उधर शोभायमान हो रही थी ॥१०८॥ कर्ण पर्यन्त धनुष से प्रेरित सफेद बाण, शत्रुओंके वक्षस्थलोंको भेद कर अत्यधिक रक्तोंको पी रहे थे ॥१०९॥ युद्ध को तैयार वक्षस्थल वाले शत्रुओं के तीक्ष्ण बाण पहले; पुरुष को भेदकर, गिराकर पश्चात् वे पृथ्वी पर गिरते थे ॥११०॥ कोई पुरुष वीर निर्भय युद्ध स्थल में सम्मुख आते हुए बाणों को हाथ में स्थित ढालों के द्वारा हटा रहे थे ॥१११॥ पैदल सैनिक बायें हाथ में स्थित ढालों के द्वारा बाणोंको हटाकर, दूसरे हाथ में स्थित ऊपर उठाई हुई तलवारों के द्वारा युद्ध करने को तत्पर हुए॥११२॥ तलवार हैं हाथ में जिनके ऐसे कई योद्धा हाथ से शूरवीरोंके अवयवोंको छेदते हुए, वे सभी युद्ध स्थल में साक्षात् यमराज के समान सुशोभित हो रहे थे ॥११३॥ कोई महा ओजस्वी वीर पुरुष हाथोंसे हाथी की सूंड को धारण कर हाथी के मस्तक पर सवार हो, उस हाथी पर सवार वीरोंको मार रहे थे ॥११४॥ अपने दांतों के मूल भाग में बंधी हुई सांकल लोह गोलकों के द्वारा महागजों से ताड़ित शत्रु के हाथी दूर भाग रहे थे ॥११५॥ बाण से बिद्ध रक्त और घावों से सहित हाथी पर सवार सैनिक पर्वत के शिखर पर स्थित फूले हुए पलाश के समान सुशोभित हो रहे थे ॥११६॥ शत्रुओंके द्वारा तलवार की धाराओं से खण्डित मनुष्यों के व घोड़ों के घावों से उत्पन्न रक्त के द्वारा पृथ्वी पर रक्त का समुद्र हो रहा था ॥११७॥

यत्रेभ-पाद-खण्डानि, कच्छपोपमतां ययुः । मकराकरता-मीयुच्छिन्नाश्च करिणां कराः ॥११८॥
पिशाच-काक-गृध्राश्च, कुककुराः पिशिताशिनः । विचेरुस्तत्र सानन्दा, पलास्वादन-लम्पटाः ॥११९॥
प्राणप्रयाण-कालेऽपि, दन्तिदन्तोद्धृता भटाः । जघ्नुः करस्थितैः कुन्तैः, करिपृष्ठ-गतान्नरान् ॥१२०॥
पतन्ति मूर्च्छिता भूमौ, केचिन्मुद्गर-ताडिताः । केचित्प्राणान्विमुञ्चन्ति गदाचूर्णित-मस्तकाः ॥१२१॥
लूने शिरसि शस्त्रेण, नृत्यत्तत्र कबन्धकं । प्रधाव्योद्गम्य खड्गं च, प्रति-शत्रुं जघान च ॥१२२॥
लून-पाद-कराश्चक्रै रणोर्व्यां पतिता भटाः । कोपारूणेक्षणा योद्धमुत्तिष्ठंति पतंति च ॥१२३॥
कृपाण-चक्र-कुन्ताग्र, गदामुद्गर-सायकैः । त्रिशूलतोमरैयुर्द्धं, बभूव तुमुलं तयोः ॥१२४॥
फल-गोलक-पाषाण-हलाङ्गैर्बहुभिर्बहून् । बहुधा देवसेनीयाः शत्रूञ्जघ्नुः कृषीवलाः ॥१२५॥
यष्टिमुष्टिप्रहारैश्च, गोपाला मुशलादिभिः । तत्र चक्रुर्महायुद्धं भटलोकभयावहम् ॥१२६॥
रथाश्व-गजभृत्यौघैश्चूर्णी-भूतैर्मृतैस्तदा । पतितैश्च क्षितौ जातं, दुर्गं मरण-मण्डलम् ॥१२७॥
स्वदेश-भूमिसामर्थ्याद्देवसेनभटैश्चमूः । नीताभङ्गदशा-मिन्द्रसेनस्य बलशालिनः ॥१२८॥
भङ्गोन्मुखं निजं सैन्यं, विलोक्य मथुरापतिः । समुत्थितः स्वयं योद्धुं, सपुत्रोऽरि-जिगीषया ॥१२९॥
सात्मजो मथुरेशोऽसौ, भ्रूभङ्ग-कुटिलाननः । कुण्डलीकृत-कोदण्डः, शर-वर्षं ववर्ष च ॥१३०॥

जहाँ हाथी के पैरों के निचले खण्ड कछुए की उपमा को प्राप्त हुए और हाथियोंकी कटींहुई सूंडें मगर के आकार को प्राप्त हो रहीं थीं ॥११८॥ युद्ध क्षेत्र में मांस को खाने वाले, मांस के स्वाद में लम्पट पिशाच, कौये, गृध्र, कुत्ते आनंद सहित विचरण करते थे ॥११९॥ प्राणों के निकलने के समय भी हाथी के दांतों को खींचने वाले योद्धा हाथ में स्थित भालों के द्वारा हाथी की पीठ पर सवार मनुष्योंको मार रहे थे ॥१२०॥ कोई योद्धा मुदगर से ताड़ित, पीड़ित मूर्च्छित होते हुए भूमि पर गिरते हैं, कोई गदा से चूर्णित मस्तक वाले प्राणों को छोड़ते हैं ॥१२१॥ वहाँ पर शस्त्र से सिर के कट जाने पर नाचता हुआ धड़ दौड़कर तलवार को उठाकर प्रतिशत्रु को मार रहा था ॥१२२॥ योद्धाओं के चक्रों के द्वारा कटे हुए पैर-हाथ रणभूमि में गिरे और क्रोध से लाल नेत्र वाले उदभट योद्धा युद्ध के लिए उठ और गिर रहे थे ॥१२३॥ तलवार, चक्र, भाला के अग्र भाग, गदा, मुदगर और बाणों के द्वारा त्रिशूल तौमरों के द्वारा उन देवसेन और इन्द्रसेन की सेनाओंमें धमासान (भीषण) युद्ध हुआ ॥१२४॥ बहुत फल, गोले, पाषाण, पत्थर और हलों अंगों द्वारा देवसेन राजा के किसानोंने बहुत प्रकार से बहुत शत्रुओं को मारा ॥१२५॥ वहाँ पर योद्धाओं को, भय उत्पन्न करने वाले गोपालों ने लाठी और मुष्ठिओं के प्रहारों से और मूसल आदि के द्वारा महायुद्ध किया ॥१२६॥ तब रथ घोड़े, हाथी, सेवकों के समूह द्वारा चूर्ण हुए मरे और पृथ्वी पर गिरे हुओं के द्वारा मरने वालों का समूह कठिन हो गया ॥१२७॥ अपने देश की भूमि के सामर्थ्य से देवसेन की सेना के सैनिकों ने बलशाली इन्द्रसेन की सेना के लिए भग्न दशा को प्राप्त करा दिया ॥१२८॥ मथुरापति इन्द्रसेन अपनी सेना को भंगोन्मुख/विनाश के समीप देखकर पुत्र सहित शत्रुओं को जीतने की इच्छा से स्वयं युद्ध करने के लिए उपस्थित हुआ ॥१२९॥ पुत्र सहित यह मथुरा पति

दुर्निरीक्ष्यौ तु कल्पान्त-दहनादित्य-सन्निभौ । कुर्वतौ कदनं रौद्रं, रौद्रमूर्तीविरेजतुः ॥१३१॥
उपेन्द्र-सेनास्त्वारुह्य, गजं नाम्ना बलाहकं । गजानां षट् सहस्त्र्या च, वेष्टितं मद-वर्षिणाम् ॥१३२॥
आयातं देवसेनस्य सैन्यस्याभिमुखं द्रुतम् । विजयोऽरिंजयारुढो, रुरोधागत्य धीरधीः ॥१३३॥ युग्मं ॥
क्व यास्यसि कियत्क्वेति, तिष्ठ मत्पुरतोऽधुना । अन्योन्यमिति जल्पन्तो मिलितौ रणमण्डले ॥१३४॥
दोर्भ्यां कर्णान्त-माकृष्ट-धनुर्मुक्तशरैर्नराः । विव्यधुर्वैरिणोऽन्योन्यं, शूरयो-रुभयोस्तयोः ॥१३५॥
प्रहार-वञ्चनादानैः शस्त्राणां कुशला-वुभौ । चक्रतुः कदनं क्रूरं रणावेश-वशीकृतौ ॥१३६॥
भिन्दन्तो दन्तिनो दन्तान्, खड्गधाराभिराग्रहात् । प्रविश्यापरसैन्यं च, विजयस्य च सद्भटाः ॥१३७॥
भिन्दन्तस्तीक्ष्णकुन्ताग्रै, - रिभकुम्भस्थलान्यमी । कुर्वतः सिंहनादांश्च, दलन्त्यरिवरुथिनीं ॥१३८॥
बलात्तुरङ्गमास्तुङ्गान् बधिरीकृतदिङ्मुखान् । हेषारवै रणे जघ्नुस्तद्वीराः सादिभिः समम् ॥१३९॥
गदामुद्गर-घातैश्च, चूर्णीकृत्य रथान्पुनः । पातिताः पत्तयः पुम्भिः, प्रबलैर्विजयाश्रितैः ॥१४०॥
प(प्र)त्रासितास्तुरङ्गास्तु, पातिता वारणा रणे । विजयामात्य-सद्वीरै-रैन्द्रसेन-रणार्थिनः ॥१४१॥
वीक्ष्य भङ्गोन्मुखं सैन्य-मैन्द्रसेनिर्निजं स्वयं । योद्धुं बलाहकारुढश्चचाल विजयं प्रति ॥१४२॥

भ्रूभंग और टेढ़े मुख वाला, कुंडल/गोल आकार किया है धनुष को जिसने ऐसा बाणोंकी वर्षा को बर्षाने लगा ॥१३०॥ कल्पान्त काल की अग्नि वा सूर्य के समान अत्यन्त प्रदीप्त कठिनता से देखने योग्य वे दोनों पिता पुत्र उस समय भयंकर युद्ध करते हुए तेजस्वी वा दर्शन करने में अशक्य रौद्र रूप दिख रहे थे ॥१३१॥ मद जल को वर्षाने वाले छह हजार हाथियों से घिरा हुआ उपेन्द्रसेन बलाहक नामक हाथी पर सवार होकर देवसेन की सेना के सम्मुख शीघ्रता से आये उस उपेन्द्रसेन को अरिंजय हाथी के ऊपर सवार धीरबुद्धि विजय मंत्री ने आकर रोका ॥१३२-१३३॥ तूँ कहाँ जाएगा, कितना कहाँ जा रहा है इस समय मेरे सामने ठहर, इसप्रकार परस्पर में बोलते हुए वे दोनों युद्धस्थल में मिले ॥१३४॥ देवसेन और इन्द्रसेन इन दोनों के योद्धागण भुजाओं के द्वारा कान तक खीचें हुए धनुष से छोड़े हुये बाणों के द्वारा बैरी शूरवीर मनुष्य परस्पर में एक-दूसरे को वेध/छिन्न-भिन्न कर रहे थे ॥१३५॥ युद्ध के आवेश के वशीभूत किए हुए शस्त्रोंके प्रहार बचाने और ग्रहण करने में कुशल उन दोनों ने (उपेन्द्रसेन और विजयमंत्री ने) क्रू र युद्ध किया ॥१३६॥ विजय मंत्री के श्रेष्ठ सुभट तलवार की धाराओंके प्रहार से हाथियों के दांतों को भेदते हुए शत्रु सेना में प्रवेश कर तीक्ष्ण भालों से हाथियों के कुम्भस्थल को भेदते हुये सिंहनाद करते हुए शत्रु सेना को दलित कर रहे थे ॥१३७-१३८॥ युद्ध में उसके वीर घोड़े की हिनहिनाहट की आवाज के द्वारा घुड़सवारों के साथ बलपूर्वक ऊँचे घोड़ों को मार रहे थे ॥१३९॥ प्रबल बलशाली विजय मंत्री के आश्रितोंके द्वारा गदा व मुद्गर के घातों/प्रहारों से रथों को चूर्ण कर फिर पैदल सैनिकों को गिराया ॥१४०॥ इन्द्रसेन से युद्ध को चाहने वाले विजयमंत्री के श्रेष्ठ वीरोंके द्वारा युद्ध में त्रास/संताप को प्राप्त हाथी और घोड़े गिराये गये ॥१४१॥ इन्द्रसेन सम्बन्धी अपनी सेना को भंगोन्मुख देखकर उपेंद्रसेन बलाहक नामक हाथी पर सवार होकर युद्ध के लिए विजय मंत्री की ओर चला ॥१४२॥ जब तक मन

मुञ्चन् शरान्मनोवेगा-नायाति विजयं प्रति । तावत्कश्चिद्भटोऽभ्येत्य, तूर्णं तत्पुरतः स्थितः॥१४३॥
तमाहोपेन्द्रसेनश्च, निज-पौरुष-गर्वितः । प्रयाहि भद्र! भद्रं ते, भूयाद्भो वणिजात्मज!॥१४४॥
वाणिज्यं वणिजां कर्म, तद्युक्तं भवतोऽन्वहम् । रणाङ्गणेऽसिधाराभिः क्रीडनं न च बाहुजैः॥१४५॥
कुलजातिक्रमायात-माचारं चरतां नृणाम् । यशोऽभिवृद्धि-मायाति, व्यत्ययादुपहासताम्॥१४६॥
त्व-मस्माभि-रमा युद्धं, राजकन्याधनाशया । कर्तुमिच्छसि न श्लाघ्यं, लप्स्यते तेन भूतले॥१४७॥
प्राक्प्रहर्तुमयुक्तं त्वां, वाणिजं क्षत्रियस्य मे । एहि देहि प्रहारं त्वं गृहाणाशु ततो मम॥१४८॥
कश्चिद्भटो जगादेति, मथुरेशात्मजं ततः । त्वयोक्तं ज्ञानहीनेन, गर्विणा श्रुणु तत्वतः॥१४९॥
जीवो वणिक्त्वमायाति क्षत्रियत्वं स एव हि । उत्पद्यते कुले यत्र तदाख्यां लभते ध्रुवम्॥१५०॥
प्राग्भवोपार्जितं पुण्यं, शौर्यादिगुणकारणं । न कुलं क्षत्रियाणां च, जातिर्वा जायते नृणाम्॥१५१॥
धनुर्विद्या-गुरुर्द्रोणः क्षत्रियाणां विशारदः । कुलेन ब्राह्मणः शूरः ख्यातिं किं न गतोऽवनौ॥१५३॥
शूरा वीरास्तथा धीराः सङ्गरार्जितकीर्तयः । कुलहीनाः प्रसिद्धाश्च, किं न सन्ति वनेचराः॥१५३॥
हन्ति मातङ्ग-यूथानि सर्वसत्व-भयङ्करः । सिंहस्तिर्यक्कुलोत्पन्नो, वने वसति निर्भयः॥१५४॥

के वेग समान बाणोंको छोड़ता हुआ उपेन्द्रसेन विजयमंत्री की ओर आता हैं, तब तक कश्चिद्भट (वरांग युवराज) शीघ्र उसके सामने आकर स्थित हो जाता है ॥१४३॥ अपने पराक्रम से गर्व को प्राप्त उपेन्द्रसेन राजपुत्र कश्चिद्भट से कहता है कि हे वणिक् पुत्र तुम्हारा कल्याण हो। तुम यहाँ से चले जाओ॥१४४॥ व्यापार करना वैश्यों का कर्त्तव्य है और वही व्यापार कर्म करना आपके लिए ठीक है, युद्ध में तलवारों की धाराओं द्वारा क्षत्रियों से रणक्रीड़ा करना उचित नहीं है ॥१४५॥ कुल जाति के क्रम से आये हुए आचरण को आचरित करने वाले मनुष्योंका यश, वृद्धि प्राप्त होता हैं, इससे विपरीत करने वाले हँसी के पात्र होते हैं ॥१४६॥ राज्यपुत्री और धन की आशा से तुम हमारे साथ युद्ध को करना चाहते हो, उससे तुम पृथ्वी तल पर प्रशंसा को प्राप्त नहीं कर सकते ॥१४७॥ मुझ क्षत्रिय का तुम वणिक् के लिए पहले प्रहार करना युक्त नहीं है तुम आओ प्रहार करों, उसके बाद तुम प्रहारों को शीघ्र ग्रहण करो ॥१४८॥ उसके बाद कश्चिद्भट ने मथुरापति के पुत्र उपेन्द्रसेन को इस प्रकार कहा—ज्ञान रहित अभिमान से तुम्हारे द्वारा कहे गये वचनोंको वास्तविकता को सुनो ॥१४९॥ वह जीव ही वैश्यपने को और क्षत्रियपने को प्राप्त करता है। यहाँ जीव जिस कुल में उत्पन्न होता है। तब वह वहाँ उस नाम को नियम से प्राप्त करता है ॥१५०॥ मनुष्यों का पूर्व भव में उपार्जित पुण्य, शौर्य आदि गुणों का कारण है। क्षत्रियों का कुल अथवा जाति, शौर्य आदि गुणों का कारण नहीं हैं ॥१५१॥ कुल से ब्राह्मण शूरवीर, धुनषविद्या के गुरु द्रोणाचार्य क्षत्रियों में निपुण शूरवीर क्या पृथ्वी पर ख्याति को प्राप्त नहीं हुए॥१५२॥ और शूरवीर, धीर युद्ध में कीर्ति को अर्जित करने वाले कुलहीन, वन में रहने वाले भील क्या प्रसिद्ध नहीं हुये हैं ॥१५३॥ सभी जीवों को भय करने वाला, पशु कुल में उत्पन्न होने पर भी सिंह, हाथियों के समूह को मारता है और वन में निर्भय रहता है ॥१५४॥ महामंत्री के पद को प्राप्त कर स्वामी के कार्य को करने का उद्यम

महामात्यपदं लब्ध्वा, स्वामि-कार्यकृतोद्यमाः । निजविक्रम-सामर्थ्याद्वाणिजः साधयन्त्यरीन् ॥१५५॥
शुल्क-दानेन भूपाल-नाहाराभय-भैषजैः । शास्त्र-दानैश्च यत्यादीन्प्रणीयंति वणिग्जनाः ॥१५६॥
यो वा को वा कुलेनाहं, यादृशं कीदृशोऽस्मि वा । प्रविधेहि मया युद्धं, यद्यस्ति तव पौरुषम् ॥१५७॥
परस्य स्वाभिलाषी त्वं, यदर्थं दूर-मागतः । तमारूढोऽस्म्यहं नागं गृहाण यदि शक्तिमान् ॥१५८॥
श्रुत्वोक्त-मिति तद्वाक्य-मैन्द्रसेनी रूषा गजम् । वेगाद्वलाहकं योद्धुं, निन्ये कश्चिद्भटान्तिकम् ॥१५९॥
क्रोधोद्धतमनाः सूचीमुखान्मर्म-विदारकान् । मुमोच सायकानैन्द्रसेनी रिपुगजं प्रति ॥१६०॥
अर्धचन्द्रशरैश्छिन्दन्, रिपुप्रेरित-सायकान् । विव्याध मार्गणैः कश्चिद्भटस्तस्य बलाहकम् ॥१६१॥
ता-वुद्धतायुधौ घात-प्रतिघातविचक्षणौ । रक्षन्तो स्वाङ्गमर्माणि, सङ्ग्रामं कुरुतश्चिरम् ॥१६२॥
शक्ति-त्रिशूल-नाराच-चक्र-कुन्तासि-सायकैः । कणयैर्भिण्डिमालैश्च, महायुद्धमभूत्तयोः ॥१६३॥
उपेन्द्रसेन-निर्मुक्तां, शक्तिं वामकरेण च । निपात्य भूतले कश्चिद्भटो दक्षिणबाहुना ॥१६४॥
जघान शक्तिमुद्दिश्य, स्वशक्त्योपेन्द्रसेनकम् । सोपि विच्छेद चक्रेण ध्वजदंडं वणिक्पते ॥१६५॥
पुनरन्यत्समादाय, कोपतो मथुरेशजः । चिक्षेपादित्याभं कोपाच्चक्रं कश्चिद्भटं प्रति ॥१६६॥
कश्चिद्भटस्तदागच्छद्दृष्ट्वा स्वाभिमुखं हसन् । निहत्य गदया भूमौ पातयामास दक्षिणं ॥१६७॥

करने वाले अपने पराक्रम के सामर्थ्य से वैश्य जन भी शत्रुओंको जीतते हैं ॥१५५॥ व्यापारी लोग शुल्क (टैक्स)दान से राजाओं को और आहार, अभय औषधियों और शास्त्र दान से साधुओं उत्कृष्ट श्रावकों आदि को तृप्त करते हैं ॥१५६॥ मैं जिस किसी भी कुल का हूँ, ऐसा अथवा कैसा भी हूँ, यदि तुममें सामर्थ्य हो तो मुझ से युद्ध करो ॥१५७॥ तुम परधन के अभिलाषी हो, जिसके लिये तुम दूर से आये हो, मैं उस हाथी पर सवार हूँ यदि तुम शक्ति युक्त हो तो उसे ग्रहण करो ॥१५८॥ इस प्रकार कहे हुए उस वरांग के वचनों को सुनकर उपेन्द्रसेन क्रोध पूर्वक वेग से बलाहक नामक हाथ को युद्ध के लिए कश्चिद्भट के पास ले गया ॥१५९॥ क्रोध से उद्धत मन वाले उपेन्द्रसेन ने सुई के समान मुख वाले मर्म के छेदक शत्रु के हाथी पर बाणों को छोड़ा ॥१६०॥ अर्धचन्द्र बाणों से शत्रु के द्वारा भेजे गये बाणों को छेदते हुए उस कश्चिद्भट ने बाणों के द्वारा इन्द्रसेन के हाथी बलाहक को वेध दिया ॥१६१॥ घात प्रतिघात मेंचतुर उठाये हुये आयुधों वाले वे अपने शरीर के मर्म स्थानों की रक्षा करते हुए उन दोनों ने चिरकाल तक युद्ध किया ॥१६२॥ उन दोनों का शक्ति, त्रिशूल, नाराच, चक्र, भाला, तलवार, बाणों, कणयों और भिन्डीमालों के द्वारा महायुद्ध हुआ ॥१६३॥ उपेन्द्रसेन द्वारा छोड़ी हुए शक्ति को कश्चिद्भट ने बायेंहाथ के द्वारा पृथ्वी तल पर गिराकर, अपनी शक्ति से उपेन्द्रसेन को उद्देश्य कर शक्ति को मारा, उपेन्द्रसेन ने भी चक्र के द्वारा वणिकपति् वरांग के ध्वजदण्ड को छेद दिया ॥१६४-१६५॥ पुनः उपेन्द्रसेन ने क्रोध से दूसरे सूर्य के समान आभा वाले चक्र को क्रोध से कश्चिद्भट के ऊपर फेंका ॥१६६॥ तब कश्चिद्भट ने अपने सामने आते हुए चक्र को देखकर हँसते हुये गदा से मारकर दक्षिण की ओर भूमि पर गिरा दिया ॥१६७॥ और उपेन्द्रसेन के बाजूबन्ध से भूषित हाथ को बाणोंके द्वारा छेद दिया और छत्र

विच्छेदोपेन्द्रसेनस्य, हस्तं कटक-भूषितम् । निहत्य कणयैश्च छत्र-चामरादीन्यपातयत् ॥१६८॥
छिन्न-वाम-करो युद्ध-मकरो-दिन्द्रसेनजः । समं कश्चिद्भटेनास्त्र-विद्यासामर्थ्यतः क्षणम् ॥१६९॥
निवार्यता-मिति मत्वा, राजपुत्रं वणिक्सुतः । ममर्द वारणं तस्य, वारणेन निजेन सः ॥१७०॥
उत्खातौ दन्तिनो दन्तौ, दन्ताभ्यां दन्तिना पुनः । करं करेण चोन्मूल्य, पातितोऽरिगजोऽवनौ ॥१७१॥
शक्तिं कश्चिद्भटस्तीक्ष्णां, मुमोच स्वरिपुं प्रति । भित्वा वक्षःस्थलं तस्य, सा ममज्ज महीतले ॥१७२॥
दृष्ट्वा शक्तिप्रहारेण, भिन्नाङ्ग-भ्रान्त-लोचनम् । प्रधाव्य खड्ग-मुद्धृत्य चकर्तास्य शिरो वणिक् ॥१७३॥
पतितं भूतले तस्य, रत्नकुण्डल-मण्डितं । वहति स्म शिरः शोभां, प्रफुल्लस्याम्बुजस्य च ॥१७४॥
निर्मेघ-पटले व्योम्नि, वायुना विहते यथा । भानुर्विभाति दुःप्रेक्ष्योऽरिञ्जयेऽभात्स वै तथा ॥१७५॥
तदा कश्चिद्भटो वीर,-रसावेश-विमोहितः । मुमुदे तं रिपुं दुष्टवा, पतितं रणमण्डले ॥१७६॥
छिन्दन् शिरांसि शत्रूणां, केषाञ्चित्खड्गधारया । कांश्चिच्च विरथीकुर्वन्रथान्संचूर्ण्य मुद्गरैः ॥१७७॥
गजांश्चाशु विकुर्वन्स सिंहनादैर्भयावहैः । दूरन्मुत्सारयन्भृत्यान्, सर्वान्बाणै-रितस्ततः ॥१७८॥
जनयञ्जनसंहारं, रूपी काल इवाहवे । भूभुजा देवसेनेन, दृष्टः कश्चिद्भटस्तदा ॥१७९॥विशेषकं ॥
किं कल्पान्त-रविश्चण्डः किं वायं प्रलयानलः । किं वा मद्विजयस्तम्भः, शत्रुपक्ष-क्षयङ्करः ॥१८०॥

चामरादि को खण्डित कर गिरा दिया ॥१६८॥ छिद गया है बाँया हाथ जिसका ऐसे उपेन्द्रसेन ने अस्त्र विद्या की सामर्थ्य से कुछ समय कश्चिद्भट के साथ युद्ध किया ॥१६९॥ वणिकपुत्र (वरांग) ने राजपुत्र उपेन्द्रसेन को निवारण करने योग्य मानकर उसने अपने हाथी से उस उपेन्द्रसेन के हाथी को मर्दित किया ॥१७०॥ फिर हाथी ने दाँतों से हाथी के दाँतों को उखाड़ा। सूँढ़ से सूँढ़ को जड़ से उखाड़ कर शत्रु के हाथी को पृथिवी पर पटक/गिरा दिया ॥१७१॥ कश्चिद्भट ने तीक्ष्ण शक्ति को अपने शत्रु पर छोड़ा, वह शक्ति उसके वक्षस्थल को भेद कर पृथ्वी तल में घुस गयी (समा गयी) ॥१७२॥ शक्ति के प्रहार से विदीर्ण शरीर और घूमते हुए नेत्रों को देखकर वणिक् वरांग ने दौड़कर, तलवार को ऊपर उठा, इस उपेन्द्रसेन के शिर को काट दिया ॥१७३॥ उसका रत्न कुण्डल से विभूषित शिर पृथ्वी तल पर गिरा और वह विकसित हुए लाल कमल की शोभा को धारण कर रहा था ॥१७४॥ जैसे वायु के द्वारा आकाश में मेघपटल से रहित किये जाने पर सूर्य सुशोभित होता है तथा उसी तरह वह कश्चिद्भट वरांग; शत्रु से विजय करने पर कठिनाई से देखने योग्य सूर्यके समान सुशोभित हो रहा था ॥१७५॥ तब कश्चिद्भट वीररस के वेग से विमोहित होता हुआ युद्धस्थल के मध्य मेंउस शत्रु को गिरा हुआ देखकर आनन्दित हुआ ॥१७६॥ वह किन्हीं शत्रुओं के शिरों को तलवार की धार से छेदता हुआ और किन्हीं को रथ रहित करता हुआ मुद्गरों के द्वारा रथों को चूर्ण कर भय को उत्पन्न करने वाले सिंहनादों के द्वारा हाथिओं को दूर करता हुआ और बाणों के द्वारा सभी सेवकों को इधर-उधर भगाता हुआ, युद्ध में जनसंहार को करता हुआ, कालरूपी कश्चिद्भट, राजा देवसेन के द्वारा देखा गया ॥१७७-१७८-१७९॥ क्या यह कल्पान्त कालीन प्रचण्ड सूर्य है अथवा क्या यह प्रलयकालीन अग्नि है, अन्यथा क्या यह शत्रु पक्ष का

वाजिनापहतो यो वा, श्रूयतेऽतिपराक्रमी । वराङ्गो भागिनेयो मे, धर्मसेननृपात्मजः ॥१८१॥
वृथायं कथ्यते लोकैर्वणिक्पुत्रो महाभटः । राजपुत्रं विनान्यस्य, नास्ति पौरुषमीदृशम् ॥१८२॥
यावत्स चिन्तयत्येवं देवसेनमहीपतिः । इन्द्रसेनो मृतं दृष्ट्वा सुतं तावत्समाययौ ॥१८३॥
निर्देवसेन-मद्यैव, विधाय वशुधामहं । हन्मि कश्चिद्भटं पश्चात्, मम नन्दनहिंसकं ॥१८४॥
वदन्निति गजारूढो, रोषेणारुण-लोचनः । इन्द्रसेनो ययौ देवसेनस्याभिमुखं रणे ॥१८५॥
नानायुध-धरौ धीरौ, कुण्डलीकृत-कार्मुकौ । अन्योन्यं निर्जयन्तौ तौ, सङ्ग्रामे मिलितौ नृपौ ॥१८६॥
मृतेऽत्रोपेन्द्रसेने न, युक्तं कर्तुं पलायनम् । न जानासि वराक त्वं, वेत्यस्य मम पौरुषम् ॥१८७॥
इत्युक्त्वा देवसेनस्तं, चक्रेणाहत्य मूर्धनि । चिच्छेद मुकुटं केतुं, तस्य रत्नमयं प्रभोः ॥१८८॥
आपतन्तीं महाशक्तिमिन्द्रसेनेन चेरितां । अर्धचन्द्रशरेणाशु, चिच्छेद ललितेश्वरः ॥१८९॥
पुनः श्रीदेवसेनेन, मुक्ता शक्तिर्महीपतेः । छत्रं हस्तिपकेनामा, पातयामास पाण्डुरम् ॥१९०॥
अलुनाद्देवसेनस्य, ध्वजदण्डं महोन्नतम् । कणयेनेन्द्रसेनोऽपि, रत्नरञ्जित-दिङ्मुखम् ॥१९१॥
प्रविदारित-कुम्भस्य, कपोल-मद-शालिनः । चक्रेण मथुरेशोऽपि, चकर्त करिणः करम् ॥१९२॥
ततश्छिन्न-करान्नागाद्देवसेनोऽवतीर्य च । सुकल्पितं गजं चान्य-मारुरोह महोद्धतम् ॥१९३॥
देवसेनः सुसंनह्य, युद्धं प्रारब्धवान्पुनः । तेनैव न यतो वीरो, जहाति समयं निजम् ॥१९४॥

क्षय करने वाला मेरा विजय का स्तम्भ है ॥१८०॥ अथवा जो घोड़े के द्वारा चुराया गया अति पराक्रमी धर्मसेन राजा का पुत्र मेरा भानेज वरांग सुना जाता है ॥१८१॥ यह महाभट लोगों के द्वारा व्यर्थ ही वणिक्पुत्र कहा जाता है, इस प्रकार का पराक्रम राजपुत्र के बिना अन्य के नहीं होता है ॥१८२॥ जब तक देवसेन राजा इस प्रकार विचार करता है, तब तक इन्द्रसेन पुत्र को मरा हुआ देखकर वहाँ आया ॥१८३॥ मैं आज ही पृथ्वी को देवसेन से रहित करने के पश्चात् मेरे पुत्र को मारने वाले कश्चिद्भट को मारता हूँ ॥१८४॥ इस प्रकार कहता हुआ हाथी पर सवार क्रोध से लाल नेत्र वाला इन्द्रसेन युद्ध में देवसेन के सामने आया ॥१८५॥ नाना आयुधों को धारण करने वाले कुण्डलाकार किये हुए धनुष वाले वे दोनों राजा परस्पर में एक-दूसरे को जीतते हुये युद्ध में मिले ॥१८६॥ यहाँ उपेन्द्रसेन (राजपुत्र) के मर जाने पर पलायन करना योग्य नही हैं, तुम विचारे, मेरे इस पराक्रम को नहीं जानते ॥१८७॥ ऐसा कहकर देवसेन ने उस इन्द्रसेन के मस्तक पर चक्र से प्रहार कर, उस इन्द्रसेन राजा के रत्नमय मुकुट और ध्वजा को छेद दिया ॥१८८॥ और इन्द्रसेन के द्वारा प्रेरित आती हुई महाशक्ति को देवसेन राजा ने अर्द्धचन्द्र बाणोंसे शीघ्र ही छेद दिया ॥१८९॥ पुनः देवसेन ने इन्द्रसेन राजा के ऊपर शक्ति को छोड़ा जिससे महावत के साथ सफेद छत्र को नीचे गिरा दिया ॥१९०॥ इन्द्रसेन ने भी देवसेन के रत्नों से व्याप्त दिशा रूपी मुख वाले महा उन्नत (बहुत ऊँचे) ध्वजदण्ड को कणय शस्त्र द्वारा छेद दिया ॥१९१॥ मथुरा के राजा इन्द्रसेन ने भी गालों में मद को धारण करने वाले ऐसे देवसेन के हाथी के मस्तक को भी फोड़ दिया और चक्र से हाथी की सूंढ को काट दिया ॥१९२॥ उसके बाद कट गई है सूंड जिसकी ऐसे हाथी से उतरकर देवसेन भी सजे हुये दूसरे महा उद्धत हाथी पर सवार हुआ ॥१९३॥ देवसेन ने अच्छी तरह तैयार होकर पुनः

नानायुध-विभिन्नाङ्गौ, कुलादि-बल-गर्वितौ । चक्रतुस्तौ चिरं युद्धं, गजेन्द्राविव भूपती ॥१९५॥
तदा वितन्वता युद्धं, समं बहुभटैरपि । दृष्टौ कश्चिद्भटेनैतौ दुर्निरीक्ष्यौ नृणां नृपौ ॥१९६॥
उत्खातरवड्गदोर्दडश्, चण्डः कश्चिद्भटो जवात् । स्वामिनो देवसेनस्य, पक्षं त्रातुमुपागतः ॥१९७॥
परीप्सन्विजयं स्वस्य, धनुराकृष्य सायकैः । कश्चिद्भटो महासत्वो, विव्याध रिपुदन्तिनम् ॥१९८॥
चिरं नानायुधोपायैश्चकार रिपुणा रणं । देवसेन-महीपालः परं कश्चिद्भटोऽपि च ॥१९९॥
कश्चिद्भटस्य खड्गेन, ताडितोऽरि-गजो मुखे । देवसेन-करप्रास-प्रान्तप्रोतोदरो मृतः ॥२००॥
अवतीर्य ततस्तस्मा-दश्वमारुह्य वेगितं । भीतः पलायनं चक्रे, मथुरेशः स चेयतुः ॥२०१॥
राजपुत्रे मृते शूरे दलिते सकले दले । इन्द्रसेने गते दूरं, भग्ने मानमहोदये ॥२०२॥
इन्द्रसेनभटाः केचिद्भग्नमान-महौजसः । देवसेनं महीपालं, ततः शरणमागताः ॥२०३॥
[1]प्रपल्लाय्येन्द्रसेनेऽथ, गते चाभयघोषणाम् । सैन्ये प्रदापयामास, देवसेनो नरेश्वरः ॥२०४॥
कश्चिद्भटादयः शूरा, विजयाद्याश्च मन्त्रिणः । वाहनेभ्योऽवतीर्याशु, देवसेनं प्रणेमतुः ॥२०५॥
पादयोः पतितं कश्चिद्भटमुत्थाप्य भूपतिः । पप्रच्छ गाढमालिङ्ग्य शरीरकुशलं पुनः ॥२०७॥

१. प्रपलायिन्येन्द्र ।

इन्द्रसेन से युद्ध प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि वीर पुरुष उस युद्ध के कारण से ही अपने समय/अवसर को नहीं छोड़ते ॥१९४॥ नाना प्रकार के आयुधों से घायल शरीर वाले कुल जाति आदि के बल से गर्व को प्राप्त उन दोनों राजाओं ने गजेन्द्र के समान चिरकाल तक युद्ध किया ॥१९५॥ तब बहुत योद्धाओं के साथ युद्ध को विस्तारित करते हुये, मनुष्यों में कठिनाई से देखने योग्य उन दोनों राजाओं को कश्चिद भट ने देखा ॥१९६॥ जिसने अपने बाहुदण्ड से तलवार को उठाया है ऐसा वह वीर कश्चिदभट बहुत वेग से अपने स्वामी देवसेन के पक्ष की रक्षा करने के लिये आया ॥१९७॥ अपनी विजय को चाहने वाले महाशक्तिशाली कश्चिद्भट ने धनुष को तानकर बाणों के द्वारा शत्रु इन्द्रसेन के हाथी को भेद दिया ॥१९८॥ देवसेन राजा ने और कश्चिद् भट ने भी चिरकाल तक नाना आयुधोंके उपाय द्वारा शत्रु के साथ युद्ध को किया ॥१९९॥ कश्चिदभट की तलवार के द्वारा शत्रु का हाथी मुख में ताड़ित हुआ और देवसेन के हाथ में स्थित भाला के अग्रभाग से पेट के फट जाने पर इन्द्रसेन का हाथी मर गया ॥२००॥ उसके बाद वह इन्द्रसेन उस हाथी से उतर कर शीघ्र वेगशाली अश्व पर सवार हो, भय युक्त होता हुआ भाग गया ॥२०१॥ तब राजपुत्र उपेन्द्रसेन के मर जाने पर, सम्पूर्ण दल के सैनिकों के दलित (पतित) हो जाने पर, मान रूपी महोदय के भंग हो जाने पर और इन्द्रसेन के दूर जाने पर उसके बाद भंगमान तेजवाले इन्द्रसेन के कोई सैनिक देवसेन राजा की शरण को प्राप्त हुये ॥२०२-२०३॥ देवसेन राजा ने इंद्रसेन के भाग जाने पर, सेना में अभय-घोषणा दिलाई। कश्चिद्भट आदि शूरवीरों विजय आदि मंत्रियों ने वाहनों से शीघ्र उतरकर, विजयी देवसेन राजा को प्रणाम किया ॥२०४-२०५॥ फिर चरणों में पड़े हुये कश्चिद्भट को राजा ने गाढ़ आलिंगन कर, शरीर की कुशलता को पूछा ॥२०७॥ देवसेन राजा ने

देवसेनो बभाणेद-मिति कश्चिद्भटं मुदा । महाभटस्त्वमेवैकस्त्वमेव मम बान्धवः ॥२०८॥
त्वया मे रक्षितं राज्यं, नाश नीताश्च शत्रवः । त्वयैव रक्षितो लोकः किं पुनर्बहुभाषितैः ॥२०९॥
सम्भाष्यैवं नृपः कश्चिद्भटमन्यान्यथोचितम् । वचोभिः प्रगुणीकृत्य, विवेशानन्दतः पुरम् ॥२१०॥
ध्वज-तोरण-गन्धाम्बु-पुष्पप्रकर-भूषितम् । पश्यन्मङ्गल-कुम्भाश्च, प्रविष्टो नृपतिः पुरम् ॥२११॥
निजावास-सभास्वर्ण-सिंहासनतोऽखिलान् । यथोचितं प्रपूज्यासौ विससर्जाह्वागतान् ॥२१२॥
एकस्यार्थे प्रवर-करिणो (णे) भू-भुजा माथुरेण । सैन्यं नाना-नर-करि तथाश्वाकुलं दुर्मतेन ॥
पुत्रेणामा सुकृतविरहे नाशितं सर्वमाजौ । प्रक्षीणे वा स्वकृतसुकृते को लघुत्वं न याति ॥२१३॥
राज्यभ्रंशं स्वजन-विरहं, प्राप्य देशांतरं च। लब्ध्वा तत्रारिजनविजयं श्लाघनीयां च कीर्तिम् ॥
राज्यं योषिज्जनसुखमभीष्टार्थसिद्धिं समस्तां । नित्यं कश्चिद्भट इव जना पुण्यपाकाल्लभन्ते ॥२१४॥

इति श्रीपरवादि-दन्तिपञ्चानन-श्रीवर्द्धमानदेवभट्टारक विरचिते वराङ्गचरित्रे
इन्द्रसेन-पराजय-वर्णनो नाम अष्टमः सर्गः ।

हर्षपूर्वक इस प्रकार कहा तुम ही एक मुख्य महाभट हो, तुम ही मेरे बन्धु हो ॥२०८॥ तुम्हारे द्वारा मेरा राज्य रक्षित हुआ, शत्रु नाश को प्राप्त कराये गये फिर बहुत कहने से क्या तुम्हारे द्वारा ही लोक रक्षित हुआ ॥२०९॥ राजा ने कश्चिद्भट को इस प्रकार बोलकर और अन्य लोगोंको योग्य वचनों के द्वारा प्रकृष्ट गुणी करके यानी प्रशंसा करके आनंदित होते हुए नगर में प्रवेश किया ॥२१०॥ ध्वज, तोरण, सुगन्धित जल, पुष्पों के समूह से भूषित और मंगल कलशों को देखते हुए राजा ने नगर में प्रवेश किया ॥२११॥ अपने निवास स्थान पर सभा में स्वर्ण सिंहासन पर विराजित इस राजा ने सभी का यथोचित सत्कार कर और युद्ध में आये हुये वीरों को विसर्जित किया अर्थात् घर जाने की आज्ञा दी ॥२१२॥ दुर्बुद्धि मथुरापति इन्द्रसेन राजा ने एक उत्तम हाथी के लिये अपने अनेक हाथिओं को तथा घोड़ों के समूह को, ऐसी अपनी सेना को अपने उपेन्द्रसेन पुत्र के साथ युद्ध में सर्वनाश कराया। अपने द्वारा किये हुये पुण्य के क्षीण होने पर कौन लघुता को प्राप्त नहीं होता अर्थात् सभी लघुता को प्राप्त होते हैं ॥२१३॥ राज्य के नाश को स्वजनों के वियोग को और देशान्तर की प्राप्ति को भी प्राप्त करके वहाँ पर शत्रु लोगोंकी विजय को, और प्रशंसनीय कीर्ति को प्राप्त कर राज्य को, स्त्रीजन के सुख को, और सभी अभीष्ट पदार्थों की सिद्धि को मनुष्य पुण्योदय से लोक में कश्चिद्भट के समान सदा ही प्राप्त करते हैं ॥२१४॥

इस प्रकार परवादी रूप हाथिओं के लिए सिंह के समान श्री वर्द्धमान देव भट्टारक द्वारा विरचित वरांग चरित्र में इन्द्रसेन की पराजय का वर्णन करने वाला आठवां सर्ग पूर्ण हुआ।

—00000—

नवमः सर्गः

अथान्यदा भूपति-देवसेनः, सुतां प्रदित्सुः स्वसभोपविष्टम्।
तोषात्स्मितास्यः शनकै-रुवाच, कश्चिद्भटं साधित-वाञ्छितार्थम् ॥१॥
शूरो विनीतो द्युतिधैर्यवांस्त्वं, कुलेन को वा पितरौ क्व ते स्तः।
विज्ञातुमिच्छामि वदाशु वत्स!, न चेद्विरोधः प्रथितोरु[1]कीर्ते! ॥२॥
तदिङ्गित - ज्ञान - बलाद्विदित्वा, मनोगतं भाव-मुवाच भूपं।
पृष्टं त्वया यत्क्षितिपाल! तत्किं, श्रुतं त्वया नो वणिगात्मजोऽहम् ॥३॥
त्वत्पत्तने सागरवृद्धिनामा, वणिक्कुलाम्भोधि-विवृद्धिकत्वात्।
प्रकीर्तितः सागरवृद्धि-रेषः, तस्यात्मजोऽहं नृप! सत्य-मेतत् ॥४॥
कुले प्रसूता जगति प्रसिद्धे, देशान्तरं प्राप्य यमाश्रयन्ति।
ते तत्कुलाख्यां मनुजा लभंते, प्रसिद्ध-मेतत्क्षितिपाल! लोके ॥५॥
यो वासुदेवो यदुवंश-जन्मा, वृद्धिङ्गतो गोप-गृहेऽरि-भीत्या।
त्रिखण्ड-भूमीश्वरता-मवाप्य, गोपाल-संज्ञां न गतः क्षितौ किं ॥६॥
पुत्रो मुरारेर्यदुवंश-पूज्यः, प्रद्युम्न-नामा जनकात्मजस्य।
ख्यातः प्रभामण्डल इत्युभौ तौ, नीतौ रिपुभ्यां विजयार्ध-शैलं ॥७॥

१. प्रथितोरुकीर्त्तिः।

उसके बाद एक दिन संतोष से प्रसन्न मुख वाले राजा देवसेन ने पुत्री को देने की इच्छा से अर्थात् परिणय की इच्छा से अपनी सभा में बैठे हुए, सिद्ध किया है इच्छित पदार्थ को जिसने ऐसे कश्चिद्भट को धीरे-धीरे कहा ॥१॥ हे वत्स! तुम शौर्य नम्रता, कांति, धैर्य से युक्त हो, कुल से कौन हो, तुम्हारे माता-पिता कौन है? मैं यह शीघ्र जानना चाहता हूँ। हे प्रसिद्ध कीर्ति वाले! यदि विरोध ना हो तो शीघ्र कहो ॥२॥ उस राजा के इशारे के ज्ञान के बल से उसके मनोगत भाव को जानकर राजा को कहा—हे राजन् तुम्हारे द्वारा जो पूछा गया क्या वह तुम्हारे द्वारा नहीं सुना गया कि मैं वणिक्पुत्र हूँ ॥३॥ आपके नगर में सागर वृद्धि नामक वणिक कुल रूपी समुद्र की वृद्धि करने से यह सागरवृद्धि कहा जाता है। हे राजन्! मैं उस सागरवृद्धि सेठ का पुत्र हूँ, यह सत्य है ॥४॥ जगत में प्रसिद्ध कुल में उत्पन्न हुए अन्य देश को प्राप्त कर जिसका आश्रय लेते हैं वे मनुष्य उस कुल के नाम को प्राप्त करते हैं, हे राजन्! लोक में यह प्रसिद्ध है ॥५॥ जो वासुदेव (श्रीकृष्ण) यदुवश में जन्मे शत्रु के भय से नन्द गोप के गृह में वृद्धि को प्राप्त हुए तीन खंड की भूमि के स्वामीपन को प्राप्त कर क्या पृथ्वी पर गोपाल संज्ञा को प्राप्त नहीं हुए? अर्थात् अवश्य हुए ॥६॥ यादव वंश में पूज्य श्री कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न नामक पुत्र तथा विदेही जनक राजा से उत्पन्न पुत्र भामंडल इस प्रकार ये दोनोंशत्रुओं के द्वारा विजयार्द्ध पर्वत पर ले जाये गये ॥७॥ जिस कारण से बाल्य

बाल्येऽपि यस्मात्खचराधिपाभ्यां प्रवर्धितो प्राग्भवजानुरागात्।
विद्याधराख्यां न गतौ किमत्र, तथैव जानीहि वणिक्सुतं माम्॥०८॥
कुलेन जात्या क्षितिपाल! यो वा, को वाब्धिवृद्धेस्तनयत्वमाप्य।
पवित्र! तत्प्रीतिवशीकृतोऽहं वसामि तेऽस्यां पुरि वीतवाञ्छः॥०९॥
इतीरयित्वा विरते च कश्चिद्भटे जगुर्मन्त्रिण उर्वरेशं।
महानयं नाथ! यतोऽन्यनिन्दां, करोति नैवात्म-गुणप्रशंसां॥१०॥
सतो गुणान्स्वान् न वदन्ति सन्तो, दोषान्परेषामवनौ च लोकाः।
यतस्ततोऽमी कथिता महान्तो, विद्वद्भि-राप्तागम-लब्धतत्त्वैः॥११॥
नरोत्तमा ये स्वगुणैः प्रसिद्धास्, तातस्य कीर्त्या नरमध्यमाश्च।
नराधमाः स्युः श्वसरस्य कीर्त्या प्रसिद्ध-मेतद् भुवनेऽवनीश!॥१२॥
आचार एवोत्तम-वंशशंसी, स्वाचार-शुद्ध्या पुरुषाः प्रसिद्धाः।
भवन्त्यतो भूमिपतेऽस्य पुंसः, कुलं वन्दत्यप्रतिम-प्रतापाः॥१३॥
देहद्युतिर्वक्ति परान्नभुक्तिं, देशं समाख्याति नरस्य भाषा।
सद्वृत्तमाख्याति कुलं विशिष्टं, वचो जिनानामिव मोक्षमार्गं॥१४॥
अवार्य-वीर्योऽप्रतिम-प्रतापः, परोपकारैक-मतिप्रपञ्चः।

अवस्था में भी विद्याधर राजाओं के द्वारा पूर्व भव के उत्पन्न हुए अनुराग से वे दोनों वृद्धि को प्राप्त कराए गए, क्या वे यहाँ विद्याधर रूप से प्रसिद्धि को प्राप्त नहींहुए उसी तरह हे राजन्! मुझे भी तुम वणिक पुत्र जानो ॥८॥ हे राजन्! हे पवित्र! कुल वा जाति से जो मै कोई सागरवृद्धि सेठ के पुत्रपने को प्राप्त कर उसकी प्रीति के वशीभूत किया गया मैं तुम्हारी इसी नगरी में वाँछा रहित होकर निवास करता हूँ ॥९॥ ऐसा कहकर कश्चिद्भट के चुपचाप हो जाने पर, राजा को मंत्री ने कहा हे राजन्! यह महान है क्योंकि यह अन्य की निंदा नहीं करता ना ही अपने गुणों की प्रशंसा करता है ॥१०॥ क्योंकि संत पुरुष अपने विद्यमान गुणों को भी नहीं कहते और पृथ्वी पर दूसरों के दोषों को नहीं कहते हैं, इसलिए आप्त/वीतराग सर्वज्ञ अरहंत देव और अर्हत्प्रणीत आगम/जिनवाणी से प्राप्त तत्त्व वाले विद्वानों द्वारा ये महान् कहे जाते हैं ॥११॥ हे राजन्! यह बात प्रसिद्ध है, जो मनुष्य अपने गुणों से प्रसिद्ध होते हैं, वे नरोत्तम हैं और जो पिता की कीर्ति से प्रसिद्ध होते हैं, वे मध्यम पुरुष कहलाते हैं और जो श्वसुर की कृपासे प्रसिद्ध होते हैं, वे नराधम मनुष्य हैं ॥१२॥ सदाचार ही उत्तम वंश का द्योतक है, अपने आचार की शुद्धि से पुरुष प्रसिद्ध होते हैं, इसलिए हे राजन् इस पुरुष के कुल को इसका अप्रतिम/स्वाभाविक/अद्वितीय प्रताप ही कह रहा है ॥१३॥ शरीर की कांति श्रेष्ठ अन्न के भोजन को बतलाती हैं, मनुष्य की भाषा देश को बतलाती है, अच्छा चरित्र कुल की विशिष्टता को बतलाता हैं, जैसे जिनेश्वरों के वचन मोक्षमार्ग को बताते/दर्शाते हैं। जिनेन्द्र भगवान की वाणी मोक्षमार्ग को बतलाती है ॥१४॥ अजेय शक्ति, अद्वितीय प्रताप, परोपकार में मुख्य रूप

स्वराजवंसं स्वगुणै-रुदारैः, कश्चिद्भटोऽयं प्रकटीकरोति ॥१५॥
अतो विलोक्यास्य गुणानुदरान्युद्धे महीपाल-पराक्रमं च।
नैषोऽधुना वंश-विचारकालो, न्यायाद्यतो नैव चलंति धन्याः ॥१६॥
जित्वा रणेऽरींस्त्वमिहागतश्चेद्दास्यामि राज्यार्द्ध-मथात्मजां च।
त्वया सभाया-मिति यन्नृपोक्तं तत्तथ्य-मेवास्तु वचस्तथैव ॥१७॥
यथाप्रतिज्ञं प्रवदन्ति धान्यास्तथैव कुर्वन्ति महीपते! तां।
ततस्त्वयास्मै स्वसुता सुनन्दा, राज्यार्धभागेन समं प्रदेया ॥१८॥
तेषां वचोभिः स्वमनोऽनुकूलैः संसूचितान्तःकरणानुरागः।
विवाह-कल्याण-विधिं विधातुं शशास बन्धुन्निखिलान्सुतायाः ॥१९॥
शुभेऽह्नि लग्ने च शुभे मुहूर्त्ते तं चारु-चामीकर-कुम्भतोयैः।
संस्नाप्य कश्चिद्भटमेष पुत्रीं तस्मै ततोऽदाच्च चकोर-नेत्रां ॥२०॥
नियोज्य कश्चिद्भट-पाणिपद्मे, तां राजहंसीं विधिवत्तदानीं।
कश्चिद्भटाय प्रददौ सहर्षो, नृपार्द्ध(पोऽर्ध)राज्यं बलकोशयुक्तम् ॥२१॥
प्रपूज्य पूजाविधिना सुतां तां, जामातरं मार-मनोहरं तम्।
संप्रेषयामास सबन्धुलोकं, स भूपतिः सागरवृद्धि-गेहम् ॥२२॥

से बुद्धि का विस्तार अपने उदार गुणों के द्वारा यह कश्चिद्‌भट अपने राजवंश को प्रगट कर रहा है ॥१५॥ इसलिए हे राजन् युद्ध में इसके उदार गुणों को और राज्योचित राजा के योग्य पराक्रम को देखकर इस समय यह वंश के विचार का काल नहींहैं, क्योंकि धन्य पुरुष न्याय से विचलित नहीं होते ॥१६॥ अगर युद्ध में शत्रुओं को जीतकर यदि तुम यहाँ आओगे तो मैं आधे राज्य और पुत्री को दूँगा, हे राजन् सभा में जो तुम्हारे द्वारा इस प्रकार कहा गया था। वह वचन उसी प्रकार वैसा ही वास्तविक होवें ॥१७॥ हे राजन्! महापुरुष जैसी प्रतिज्ञा को कहते हैं उसको उसी से प्रकार करते हैं, इसलिए तुम्हारे द्वारा इसके लिए अपनी पुत्री सुनंदा, आधे राज्य के विभाग के साथ देना चाहिए ॥१८॥ उन मंत्रियों के अपने मन के अनकूल वचनों से प्रकट किया है मन के अनुराग को जिसने ऐसे राजा ने पुत्री के विवाह की कल्याण विधि को करने के लिए सभी बन्धुओं को आज्ञा दी ॥१९॥ उसके बाद शुभ दिन, शुभ लग्न और शुभ मुहूर्त्त में उस कश्चिद्‌भट को सुन्दर स्वर्ण के कलशों के जल से स्नान कराकर चकोर के समान नेत्र वाली पुत्री को उस राजा ने कश्चिद्‌भट के लिए दे दिया ॥२०॥ उस समय राजा ने कश्चिद्‌भट के हस्त रूपी कमलों में विधि पूर्वक राज हंसी के समान उस कन्या को सौंपकर हर्ष पूर्वक कश्चिद्‌भट के लिये सेना और खजाने से युक्त आधे राज्य को प्रदान किया ॥२१॥ कामदेव के समान सुन्दर उस अपने दामाद को और उस अपनी पुत्री को सम्मान की विधि से सम्मानित कर बन्धुजनोंके साथ उस राजा ने कश्चिद्‌भट को सागरवृद्धि सेठ के घर भेज दिया ॥२२॥ यहाँ पर पुत्रवधु से सहित पुत्र को देखकर सागरवृद्धि सेठ

स्नुषा-समेतं तनयं विलोक्य, हैमे निधायार्घ्य-मनर्घ्य-पात्रे।
उत्तारयामास [1]पयोधिवृद्धः कान्ताकराभ्यामपि तौ प्रतीह ॥२३॥
विसृज्य बन्धून्निखिलांस्ततोऽसौ, वणिक्पतिः सौध-मथात्मजाय।
जायासमेताय निवास-योग्यं, ददौ स तस्मिन्बुभुजे सुभोगान् ॥२४॥
परस्पर-प्रेम-निबद्ध-चित्तौ, परस्पराभाषण-युक्ति-युक्तौ।
तौ दम्पती वाञ्छित-भोगसौख्यं, विरेजतुस्तत्र च सेवमानौ ॥२५॥
अथान्यदा तं प्रविशन्त-मन्या, कश्चिद्भटं राजसभा-मपश्यत्।
वातायनस्थावनिपाल-पुत्री मनोजरूपं च मनोरमाह्वा ॥२६॥
दृष्ट्वा तदा तत्र वणिक्पतिं तं, तद्रूप-सौभाग्य-गुणा-नशेषान्।
विचिन्तयन्ती मनसा सुनेत्रा, बभूव कामानल-तप्तगात्रा ॥२७॥
किं जन्मनानेन मनुष्यलोके, रूपेण किंवा नवयौवनेन।
किंवा विभूत्या परया च कश्चिद्भटेन नो चेद् रहसीह योगः ॥२८॥
सा चैव धन्या खलु कामिनीनां, सा चैव धात्रा विहिता कृतार्था।
फलं तयाप्तं स्वमनोरथानां, या सेवतेऽसौ नयनाभिरामः ॥२९॥
स्थातुं न शक्नोति निशांत-मध्ये, धृतिं न चाप्नोति बहिः प्रदेशे।
मुहुर्मुहुस्तं मनसा स्मरन्ती, निरुद्ध-[2]कण्ठं रुदती स्थिता सा ॥३०॥

१. पयोधि-वृद्धेः। २. (कण्ठा)

की स्त्री ने हाथों से बहुमूल्य सोने के पात्र में अर्घ को रखकर उन दोनों वर-वधु की आरती उतारी ॥२३॥ उसके बाद व्यापारियों के स्वामी इस सागरवृद्धि सेठ ने सभी बन्धुओं को भेजकर पत्नी से सहित पुत्र के लिये निवास के योग्य महल/मकान को दिया वह उसमेंभोगों को भोगने लगा ॥२४॥परस्पर के प्रेम से बंधे हुए चित्त वाले और परस्पर के सम्भाषण की कुशलता से युक्त वे दोनोंपति-पत्नी वहाँ पर इच्छित भोगों के सुख को भोगते हुए सुशोभित हो रहे थे ॥२५॥ और एक दिन; खिड़की में स्थित मनोरमा नामक अन्य दूसरी राजपुत्री ने, कामदेव के समान रूप वाले उस कश्चिद्भट को राजसभा में प्रवेश करते हुए देखा ॥२६॥ तब वहाँ उस वणिक्पति कश्चिद्भट के उन रूप सौभाग्य आदि सम्पूर्ण गुणोंको मन से विचार करती हुई सुन्दर नेत्रों वाली वह राजपुत्री काम रूपी अग्नि से संतप्त शरीर वाली हो गई ॥२७॥ अगर इस जन्म में कश्चिद्भट के साथ एकांत में संयोग नहीं होता, तो मनुष्यलोक में जन्म से, रूप से, नवयौवन से क्या और उत्कृष्ट विभूति से क्या प्रयोजन है ॥२८॥ नेत्रों को आनंद देने वाला यह राजकुमार जिस स्त्री का सेवन करता है, वह स्त्री ही स्त्रियों में धन्य है, वह ही विधाता के द्वारा कृत कृत्यता को प्राप्त कराई गई है, उसके द्वारा ही अपने मनोरथों का फल प्राप्त किया गया है ॥२९॥ वह राजपुत्री निवास स्थान के बीच में ठहरने के लिए समर्थ नहीं है, और बाहरी प्रदेश में धीरता को प्राप्त नहीं होती वह मन से उस कश्चिद्भट को बार-बार स्मरण करती हुई, रूँधे हुए कण्ठ से रोती हुई रहती है ॥३०॥

कदाचिदुद्यान-वनं प्रविश्य, लता-गृहान्तर्गत-मध्यदेशे।
लिलेख रूपं फलके शिलायाःकश्चिद्भटस्याद्भुत-विक्रमस्य ॥३१॥
अधोमुखी वाष्प-निरुद्ध-कण्ठा, तच्चित्ररूपं प्रविलोकयन्ती।
तत्पृष्ठतोऽभ्येत्य शनैः कराभ्यां, सुलोचनेऽस्याः पिदधौवयस्या ॥३२॥
सा तत्करस्पर्शनतोऽपि वाक्याज्ज्ञात्वा सखीं तां नितरां ललज्जे।
ईषद्धसित्वा प्रममार्ज चित्रं, मनोरमा मानस-वीतहर्षा ॥३३॥
मनोरमाया महती-मवस्थां, मत्वा सखी सेति वचो बभाषे।
चित्रं किमेतद्वद वीतशङ्का, को वा नरोऽयं तव चित्तचौरः ॥३४॥
किमर्थ-मुद्यान-वने त्व-मस्मिन्नेकाकिनी तिष्ठसि राजपुत्रि!।
श्रुत्वा तदुक्तं क्षितिपालपुत्री, सा ता-मवादी-दिति लोल-नेत्रा ॥३५॥
यदा न दृष्टासि गृहे मया त्वं, तदाल्यहं त्वा-मवलोकयन्ती।
इहैत्य वल्ली-गृह-मध्यदेशे, क्रीडा-विनोदाल्ललितं नृ-रूपम् ॥३६॥
तयैवमुक्ते वदति स्म सा किं, गोपायसे मत्पुरतो मनःस्थम्।
वोढुं समर्थास्यथ किं त्वमेका, सत्यं वयस्ये वद मह्य-मेतत् ॥३७॥
उवाच सा साश्रु-विशाल-नेत्रा सगद्गदं वाक्य-मथेह दृष्टः।
मयालि कश्चिद्भट-नामधेयो गच्छन्विधातुं नरनाथ-सेवां ॥३८॥

किसी समय उस राजपुत्री ने उद्यान वन में प्रवेश कर लतागृह के अन्तर्गत मध्यभाग में अद्‌भुत पराक्रम के धारक कश्चिद्‌भट का शिला के फलक पर चित्र को लिखा ॥३१॥ नीचे की ओर मुख किये हुए आंसुओं से रूंधे हुए कंठ वाली उस कश्चिद्‌भट के चित्र को देखती हुई थी उसके पीछे धीरे से आकर इसकी सखी ने दोनों हाथों से इसके सुन्दर नेत्रों को ढँक लिया ॥३२॥ वह राजकुमारी उस सखी के हाथ के स्पर्श से और वचन वाक्य से उसको सखी जानकर अत्यधिक लज्जित हुई। कुछ मन्द हंस कर मानसिक हर्ष से रहित मनोरमा ने चित्र को मिटा दिया ॥३३॥ मनोरमा की बहुत दयनीय अवस्था को जानकर सखी ने उससे इस प्रकार वचन कहा—शंका रहित होकर कहो यह चित्र किसका है? यह तुम्हारे मन को चुराने वाला मनुष्य कौन है ? ॥३४॥ हे राजपुत्री तुम इस उद्यान वन मेंकिसलिए अकेली रहती हो, उस सखी के वचनोंको सुनकर चपल नेत्रों वाली उस राजकुमारी ने उस सखी को इस प्रकार कहा ॥३५॥ जब मेरे द्वारा तुम घर में नहीं देखी गई तो मैं यहां तुमको देखती हुई बेल लताओं के घर के अन्दर आकर लता गृह के मध्य भाग में क्रीड़ा विनोद से सुन्दर मेरे सामने मन में स्थित पुरुष के रूप (चित्र) को मेरे सामने क्यों छुपाती हों ? और क्या तुम अकेली यह दुख वहन(सहन) करने को समर्थ हो हे सखि मेरे लिए यह सत्य कहो ॥३६-३७॥ और इसके बाद आँसुओं से सहित विशाल नेत्रों वाली राजपुत्री ने गद गद वाणी से कहा हे सखी यहाँ पर मेरे द्वारा राजा की सेवा को करने के लिए कश्चिद्‌भट

मयालि दृष्टः सुभगो यदा मे, तदा प्रभृत्यैव मनो मनोभूः।
सन्तापयत्येष धृतिं न तस्माद्, व्रजामि भद्रे! वद किं करोमि ?॥३९॥
क्रीडागृहे नाऽभिजनस्य गोष्ट्यां, न पुष्पशय्या-कदली-गृहेषु।
श्रीखंड-कर्पूर-विलेपनादौ, मनो मदीयं न रतिं प्रयाति॥४०॥
न भोजने पान-विधौ न पुष्प-शय्यासने नैव मनोऽभिलाषम्।
बध्नाति दृष्टवा नवयौवनं तं, भद्रे! न जीवामि च तं विनाहम्॥४१॥
निशम्य तस्या वच इत्युवाच, चिन्तामिमां मा कुरु राजपुत्रि!।
कश्चिद्भटस्यान्तिक-माप्य वेगात्सम्पादयाम्याशु मनोगतं ते॥४२॥
पुंसां मनोमोहन -मन्त्र -तन्त्र -यन्त्र -प्रयोगान्विविधौषधानि।
जानाम्यहं मा भव विह्वला त्वं, कुर्वेऽनकूलं तव तं ततोऽद्य॥४३॥
आश्वास्य सा तामिति राजकन्यां, वणिक्पते-रन्तिक-माप्य दूती।
आहूय चैकान्त-तमप्रदेशे, स्मितानना साह सती तमेवम्॥४४॥
धन्योऽसि कश्चिद्भट! जीवलोके, यद् दुर्लभं वल्लभ-मेव वस्तु।
सम्प्रार्थनीयं पुरुषै-रनेकैः सिद्धिं गतं तत्स्वय-मेव ते त्वं॥४५॥

नामक पुरुष को जाते हुए देखा॥३८॥ हे सखी! जब से मैंने उस सुन्दर पुरुष को देखा तब से लेकर ही मेरे मन को काम विकार संतापित कर रहा है, उससे यह मेरा मन धैर्य को प्राप्त नहीं होता है, हे भद्रे! कहो मैं क्या करूँ? ॥३९॥ क्रीड़ागृह में सार्वजनिक गोष्ठी में, फूलोंकी शैय्या पर केले के गृहों में; श्रीखण्ड , कर्पूर, विलेपन आदि में मेरामन प्रीति को प्राप्त नहीं होता॥४०॥ हे भद्रे! उस नवयौवन वाले पुरुष को देखकर भोजन और पान की विधि में, फूलों की सेज और आसन में मन की अभिलाषा नहीं बँधती हैं और उसके बिना मैं जीवित नहीं रह सकती हूँ॥४१॥ उस राजपुत्री के वचन को सुनकर उसकी सखी ने इस प्रकार कहा हे राजपुत्री! तुम इस चिन्ता को मत करो। मैं शीघ्रतापूर्वक कश्चिद्भट के पास जाकर तुम्हारे मन में स्थित अभिप्राय को शीघ्र ही पूर्ण करती हूँ॥४२॥ पुरुषों के मन को मोहित करने वाले मंत्र-तंत्र और यंत्र के प्रयोग की विधि और औषधियोंको मैं जानती हूँ, तुम विह्वल मत होओ इसलिए आज मैं उसको तुम्हारे अनकूल करती हूँ॥४३॥ इस प्रकार वह दूती उस राजकन्या को आश्वासन देकर वणिक्पति कश्चिद्भट के पास आई और उसको एकान्त प्रदेश में बुलाकर प्रसन्नमुख होती हुई उसने, उसको इस प्रकार कहा॥४४॥ हे कश्चिद्भट! तुम धन्य हो, जीव लोक में जो दुर्लभ और प्रिय वस्तु अनेक लोगों के द्वारा चाही जाती हैं, वह तुम्हें स्वयं ही सिद्धि को प्राप्त हो गई है॥४५॥

कांतं वपुर्यौवन-मप्युदारं, त्वं श्लाघनीयं नव-कामिनीनाम्।
धत्से गुणान्सर्वजन-प्रियांश्च, प्राप्तोऽसि पूजातिशयं नरेन्द्रात्॥४६॥
अतः सखे! वाञ्छति राजकन्या मनोरमाह्वा त्वयि सङ्गमुच्चैः।
वद्धानुरागां नवयौवनाङ्गी-मेकान्तदेशे भज तां [१]विदग्धा॥४७॥
श्रुत्वा वचोऽस्याः स वणिक्कराभ्या-माच्छाद्य कर्णौ च वचो जगाद।
इहाप्यमुत्रापि विरुद्ध-मेतद्वचो न वाच्यं त्वयका ममाग्रे॥४८॥
स्वस्त्रीप्रवृत्तिर्व्रत-मादराद्यन्मया गृहीतं गणिनः सभायाम्।
अग्रे तु तस्मिन्निह पाप-माप्य, व्रजाम्यवश्यं नरकं च घोरम्॥४९॥
बभाण सा तं श्रुतमोहतस्त्वं वाक्यैर्मुनीनां परिवञ्चितश्च।
न देवलोकं नरकालयं वा, जानासि नो वा हित-मात्मनश्च॥५०॥
नरोत्तमा ये नव-कामिनीभिर्दीव्यन्ति देवा इव कीर्तितास्ते।
तेषामयं लोक इहैव देवलोकः परो नास्ति च देवलोकः॥५१॥
रमन्ति? न स्त्रीषु न चान्यभोगान्, प्रभुञ्जते दुःख-मिहाग्नितप्तः।
तेषां निवासं प्रवदन्ति तज्ज्ञा, इहैव लोके नरकं नराणाम्॥५२॥
विहाय तस्मात्परलोक-सौख्याभिलाष-मत्रैव कुशाग्र-बुद्धे!।
वाणिक्पते! त्वं निखिलानि नारी-सुखावसानानि सुखानि भुङ्क्ष्व॥५३॥

१. विदग्धां/विदग्ध।

तुम जवान स्त्रियों के द्वारा प्रशंसनीय, सुन्दर शरीर और उत्तम यौवन को धारण करते हो सभी जनों को प्रिय गुणों और राजा से अतिशय सम्मान को प्राप्त हो॥४६॥ इसलिए हे मित्र! वह मनोरमा नामक राज कन्या तुम्हारे विषय में बड़ा सहवास चाहती है। अनुराग वाली और नवयौवन शरीर वाली उस चतुर राजकन्या को तुम एकान्त देश में सेवन करो॥४७॥ इस दूती के वचन को सुनकर वह वणिक्पति हाथों से दोनों कानों को ढँक कर वचन बोला—इस लोक और परलोक में भी विरुद्ध यह वचन मेरे आगे तुमको नहीं बोलना चाहिए॥४८॥ स्वस्त्री प्रवृत्ति व्रत अर्थात् स्वदार संतोष व्रत को आदर पूर्वक जो मेरे द्वारा धर्म सभा में वरदत्त गणधर स्वामी से ग्रहण किया था यहाँ पर उसके भग्न होने पर मैं पाप को प्राप्त कर पापात्मा अवश्य ही घोर नरक को अवश्य ही जाऊँगा॥४९॥ उस दूती ने उस कश्चिद्भट को कहा—तुम शास्त्र अध्ययन के मोह से और मुनियोंके वचनों से सब तरफ से ठगाये गये हो, जिससे तुम देवलोक को अथवा नरकालय को और अपने आप के हित को नहीं जानते॥५०॥ जो मनुष्योत्तम जवान स्त्रियों के साथ देवों के समान क्रीड़ा करते हैं, वे देव कहे जाते हैं, उनका यह लोक यहाँ पर ही देवलोक है, दूसरा कोई देवलोक नहीं है॥५१॥ जो स्त्रियों में रमण नहीं करते और अन्य भोगों को नहीं भोगते वे यहाँ पर ही दुःख को भोगते हैं उसको जानने वाले उन मनुष्यों के निवास को इह लोक में ही नरक कहते हैं॥५२॥ इस कारण से हे कुशाग्र बुद्धि! हे वणिक्पते! परलोक के सुख की अभिलाषा यहाँ पर ही छोड़कर; तुम

बिभेषि चेत्त्वं व्रतभङ्गपापाद्, व्रतेन शुद्धेन च देवलोकः।
देवाङ्गनाभोगसुखे विदग्धा, वदन्ति तत्रापि च मुख्यमेव ॥५४॥
तस्मा-दिमां देववधू-समाना-मङ्गीकुरु त्वं नयनाभिरामां।
एकान्तदेशे नवयौवानाङ्गीं, मनस्विनीं मानस-राजहंसीं ॥५५॥
वणिक्पतिः प्राह पुनः स दूतीं,जिनोक्त-तत्त्व-प्रतिकूल-मेतत्।
शृणोमि नाहं न करोमि कर्म त्वया न वक्तव्य-मयुक्त-मेव ॥५६॥
प्रच्छन्न-वृत्तया न भजामि कन्यां, परस्त्रियं नैव कदापि भद्रे।
लोकापवादो दुरितं च यस्मान्न तद्विधेयं कुलजैः कुकर्म ॥५७॥
यदा नरेशो विधिवद्विवाहं, विधाय मह्यं प्रददाति कन्याम्।
नूनं तदा स्वीक्रियते मयैषा, नैवान्यथा किं बहुभाषितेन ॥५८॥
दृढव्रतं श्रेष्ठिसुतं विदित्वा, वक्तुं न शक्ता प्रतिवाक्य-मेषा।
स्वकार्यसिद्धिं प्रति निष्फलाशा, क्लेशं स्मरन्ती च मनोरमायाः ॥५९॥
श्रुत्वोक्त-मस्येति च शम्फली द्राक्, व्याघुट्य भूपाल-सुता-समीपम्।
गत्वा बभाणेति समीहितं ते, सर्वं करिष्येऽल्पतरै-रहोभिः ॥६०॥
विमुञ्च खेदं स्वमनोगतं तं, स्वस्था भव स्नानविधिं विधेहि।
ताम्बूल-वस्त्राभरणाशनाद्यैः, शरीर-संस्कार-विधिं कुरुष्व ॥६१॥

सम्पूर्ण नारी सुख के अवसान/विश्राम स्थानरूप सुखों को भोगों ॥५३॥ अगर तुम व्रत भंग के पाप से डरते हो और शुद्ध व्रत से देवलोक होता है तो वहाँ भी विद्वान्, देवांगनाओं के भोग से सुख को ही मुख्य कहते हैं ॥५४॥ उस कारण से सुन्दर नेत्रों वाली नव यौवन शरीर वाली, उदार मन वाली, मन रूपी हंस को रमाने के लिए राजहंसी की तरह देवांगनाओं के समान सुन्दर इस राजपुत्री को तुम एकान्त देश में अंगीकार करो ॥५५॥ फिर वह वणिक्पति दूती से बोला, यह तुम्हारे वचन जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए चरित्र के प्रतिकूल हैं, तुम्हारे द्वारा कहे हुए कर्म को न मैं सुनूँगा, न करूँगा, तुम्हारा कथन अयुक्त ही है ॥५६॥ हे भद्रे! मैं कभी भी परस्त्री और कन्या को गुप्त रीति से सेवन नहीं करता जिससे लोकापवाद और पाप होता है, वह कुकर्म ऊँचे कुलोत्पन्न पुरुषों के द्वारा नहीं किया जाना चाहिए ॥५७॥ जब राजा विधिवत् विवाह को करके मुझे कन्या को प्रदान करता है उस समय मेरे द्वारा यह निश्चित स्वीकार की जायेगी। अन्य प्रकार से नहीं, बहुत कहने से क्या ? ॥५८॥ श्रेष्ठी पुत्र के दृढ़व्रत को जानकर यह दूती प्रत्युत्तर कहने को समर्थ नहीं हुई, अपने कार्य सिद्धि के प्रति निष्फल आशावाली मनोरमा के क्लेश को स्मरण करती है ॥५९॥ इस सेठ के पुत्र के कहे हुए वचन को सुनकर दूती शीघ्र वापिस लौटकर राजपुत्री के पास जाकर इस प्रकार बोली—मैं थोड़े ही दिनों में तुम्हारे सभी मनोरथों को पूर्ण करूँगी ॥६०॥ उस अपने मनस्थित खेद को छोड़ो, स्वस्थ होओ स्नान की विधि को करो, पान, वस्त्र, आभरण और

मनोरथाना-मगतिं विदित्वा, स्वचिन्तितानां च मनोरमा सा।
आकर्ण्य दूत्या उपचार-वाक्यं तस्थौ स्ववाञ्छा मनसा वहन्ती ।।६२।।
सदा दुर्लभं वल्लभं वस्तु सद्यः, प्रशस्तं समस्तं पुनर्दूरसंस्थम्।
नृणामन्तिकस्थं करोत्येव पूर्वार्जितं पुण्यमेकं कृपा-भाव-सिद्धम् ।।६३।।
सुगोत्रं सुगात्रं विभूतिं प्रभूता-मरोगित्व-मुच्चैर्यशो-दिक्तटान्तम्।
मुनीन्द्रत्व-मासाद्य देवेन्द्रवन्द्यं शिवं पुण्यभाजः पुमांसोलभेयुः।।६४।।

इति श्रीवराङ्गचरित्रे सुनन्दा-लाभ-मनोरमा-विरह-दुःखावस्थावर्णनो नाम नवमः सर्गः ।।

भोजनादि के द्वारा शरीर की संस्कार विधि को करो ।।६१।। वह राजपुत्री मनोरमा अपने चिन्तित मनोरथों को अप्राप्त जानकर और दूती से उपचार वाक्य को सुनकर, अपनी इच्छा मन मेंधारण करती हुई रहने लगी ।।६२।। दया भाव से सिद्ध होने वाला पूर्वोपार्जित एक पुण्य ही सभी प्रशस्त और दूरस्थित सदा दुर्लभ प्रिय वस्तु को शीघ्र ही मनुष्यों के निकट में स्थापित करता है ।।६३।। पुण्यवान् पुरुष उत्तम गोत्र, सुन्दर शरीर, ऐश्वर्य, प्रभुता, आरोग्य, दिशाओं के अन्त तक फैलने वाली विशाल कीर्ति और देवेन्द्रों के द्वारा वंदनीय मुनीन्द्रपने को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।।६४।।

इस प्रकार वरांग चरित्र में सुनंदा का लाभ और मनोरमा के विरह दुःख की अवस्था का वर्णन करने वाला नववाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

—00000—

दशमः सर्गः

श्रीधर्मसेन-नृपतेस्तनयं वराङ्गं, बुद्ध्वा हयेन विहृतं युव-भूमिपालः।
संस्थापितं तदनु तस्य पदे सुषेणं, श्रुत्वा ततो रिपु-महीपति-राजगाम॥१॥
सीमा-मुपागत-ममुं निज-मण्डलस्य, श्रुत्वा यया-वभिमुखं सबलः सुषेणः।
खड्गाग्र-मार्गण-निपात-हतारि-वर्गं, युद्धं तयोस्तुमुल-मुद्धतयोर्बभूव॥२॥
भग्नः सुषेणनृपती रिपुणा रणाग्रे, भीतो निवृत्य बलिना पुर-माविवेश।
दृष्ट्वा पराजित-ममुं तनयं क्षितीशः, श्रीधर्म-सेन इह दुःख-मवाप तीव्रम॥३॥
सस्मार पौरुष-गुणांश्च वराङ्गनाम्नो, वीरस्य तस्य विजितारि-पराक्रमस्य।
सौन्दर्य-धैर्य-निलयस्य विशाल-बुद्धेः, प्राग्जन्म-पुण्य-जनिताखिल-वैभवस्य॥४॥
सम्भाव्य चेतसि वराङ्ग-मतीव राजा, शत्रुं प्रति प्रचलितः स्वयमेव धीरः।
औत्सुक्यतोऽप्यगणयन्परसैन्यशक्तिं, पुर्या बहिः स्थित(ति)मवाप च दूरदेशः॥५॥
आगत्य तत्र सचिवाः प्रविचार्य सम्यग्, भूपं प्रणम्य जगदुर्विमलोपदेशाः।
नो युक्तमेव सहसा सुमते प्रयाणं, कर्तुं द्विषं प्रति तवाद्य विना विचारम्॥६॥
अस्मद्बलं बलिन-मे(मि)न-मशक्त-माजौ, जेतुं ततोऽन्य-नृप-माप्य सहाय-माशु।
कृत्वा रणं च रिपुणा विविधायुधौघैर्हत्वा रिपुं च भुवने जयिनो भवामः॥७॥

श्री धर्मसेन राजा के पुत्र युवराज वरांग को घोड़े के द्वारा हरा हुआ जानकर और उसके पद पर सुषेण को स्थापित हुआ सुनकर उसके बाद शत्रु राजा वहाँ आ गया॥१॥ उस शत्रु राजा को अपने मंडल के साथ सीमा पर आया सुनकर युवराज सुषेण सेना सहित उसके सामने गया। गर्वोद्धत उन दोनों में तलवार के अग्रभाग और बाणों के छोड़ने से घायल है शत्रु समूह जिसमें ऐसा भयंकर युद्ध हुआ॥२॥ युद्ध के अग्रभाग में सुषेण राजा बलवान शत्रु से भयभीत हो लौटकर अपने नगर में प्रविष्ट हुआ, यहाँ पर श्री धर्मसेन राजा इस पुत्र को पराजित देखकर तीव्र दुःख को प्राप्त हुआ॥३॥ तथा तब धर्मसेन राजा ने, जीता है शत्रु समूह को पराक्रम से जिसने ऐसे सौन्दर्य और धैर्य के आलय यानी घर, विशाल बुद्धि वाले, पूर्व जन्म के पुण्य से उत्पन्न सभी वैभव वाले उस वरांग नामक वीर के पुरुषार्थ और गुणों का बार-बार स्मरण किया। और इस राजा धर्मसेन ने मन में युवराज वरांग को बहुत याद कर स्वयं ही शत्रु की ओर चल पड़ा। उत्सुकता से शत्रु की सैन्य शक्ति को नहीं मानते हुए नगर के बाहर और दूर देश में स्थिति को प्राप्त हुआ, ठहर गया॥४-५॥ मंत्रियों ने वहाँ आकर अच्छी तरह विचार कर राजा को प्रणाम कर निर्मल उपदेशों दिया कि हे बुद्धिमान राजन्! आज तुम्हारा, बिना विचारे, शत्रु की ओर अचानक प्रस्थान करना योग्य नहीं है॥६॥ युद्ध में हमारी सेना इस बलवान राजा को जीतने में अशक्य है, इसलिए शीघ ही अन्य राजा की सहायता प्राप्त कर और अनेक आयुधों के समूह के द्वारा शत्रु से युद्ध को करके और शत्रु को मार कर संसार में हम विजयी होते हैं॥७॥ उस कारण से यहाँ पर ललित नामक नगर में सहज

तस्मा-दिहास्ति ललिताह्वपुरे क्षितीशो, बन्धुस्तवापि सहजश्च परोपकारी।
श्री-देवसेन इति विश्रुत-नामधेयश्चाहूयता-मवसरेऽत्र सुशीघ्रमेव ॥०८॥
श्रुत्वा वचो हितकरं निज-मन्त्रिणोऽसौ, तस्मै नृपाय विससर्ज सलेख-दूतम्।
संप्राप्य सोऽपि ललिताह्वपुरं वितन्द्रः, श्री देवसेन-पतये प्रददौ च लेखं ॥०९॥
ज्ञात्वा तदर्थ-मवनीश्वर-देवसेनः, स्वान्मन्त्रिणोऽतिकुशलान्दुहितुः पतिं तं।
आहूय चैव-मवदन्मम कान्तपुर्यां, बन्धूत्तमो वसति भूपति-धर्मसेनः ॥१०॥
तस्यात्मजो युव-नृपः स वराङ्गनामा, देशान्तरं विधिवशात्तुरगेण नीतः।
संस्थापितस्तदनु तस्य पदे सुषेणो, ज्येष्ठः सुतो नृपतिना सचिवैर्विचार्य ॥११॥
श्रीधर्मसेन-मवबुध्य वराङ्ग-नाम्नः, सूनोर्महाविरह-दुःखपयोधि-मग्नम्।
शत्रुर्महीपति-रुपेत्य रणे सुषेणं, जित्वा विनाश-मकरोद्विषयस्य शीघ्रम् ॥१२॥
ज्ञात्वा पराजित-ममुं रिपुणा सुषेणं, देशस्य भङ्ग-मखिलस्य च धर्मसेनः।
जेतुं द्विषं स नगराच्च कृतप्रयाणः, क्षिप्रं समाह्वयति मामपि यामि तत्र ॥१३॥
कश्चिद्भटात्र कुरु राज्य-मशेष-लोकं, तावत्प्रपालय भवान्नगरं विशङ्कः।
संसाध्य याव-दह-मेमि रिपुं स्वबन्धो-रुक्त्वा ददौ नृपति-रस्य करे सुलेखम् ॥१४॥
लेखं स तं पठति याव-दवार्य-वीर्यः, कण्ठं रुरोध नयनस्थित-वारिपूरः।

परोपकारी तुम्हारा बन्धु श्री देवसेन इस प्रकार प्रसिद्ध नाम वाला राजा है, इस अवसर पर यहाँ उसे शीघ्र ही बुलाया जाये ॥८॥ इस धर्मसेन राजा ने अपने मंत्रियों के हितकारी वचन को सुनकर उस देवसेन राजा के लिए लेख सहित दूत को भेजा, आलस्य रहित उस दूत ने भी ललित नामक नगर में पहुँचकर लेख को श्री देवसेन राजा के लिए प्रदान किया ॥९॥ राजा देवसेन ने उस लेख के अर्थ को जानकर अति कुशल अपने मंत्रियों को और अपनी पुत्री के पति उस दामाद कश्चिद्भट्ट को बुलाकर इस प्रकार कहा कि कान्तपुर मेंमेरा उत्तम बन्धु राजा धर्मसेन रहता है ॥१०॥ उस धर्मसेन राजा का पुत्र वरांग नामक युवराज कर्म के वश से घोड़े के द्वारा देशान्तर को ले जाया गया, उसके बाद राजा ने मंत्रियों से विचार कर ज्येष्ठ पुत्र सुषेण को उसके पद पर स्थापित किया ॥११॥ श्री धर्मसेन राजा को वरांग नामक पुत्र के महावियोग के दुःख रूप सागर मेंडूबा हुआ जानकर शत्रु राजा ने समीप आकर युद्ध में शीघ्र सुषेण को जीतकर देश का विनाश किया ॥१२॥ शत्रु के द्वारा इस सुषेण को पराजित हुआ और समस्त देश को भग्न हुआ जानकर धर्मसेन राजा ने शत्रु को जीतने के लिए नगर से प्रस्थान किया और मुझको भी वहाँ शीघ्र बुलाया है,मैं वहाँ जाता हूँ ॥१३॥ जब तक मैं अपने बन्धु के शत्रु को वश में करके आता हूँ, तब तक हे कश्चिद्भट! यहाँ राज्य करो। सम्पूर्ण लोगों का और नगर का शंका रहित होते हुए पालन करो, ऐसा कह राजा ने इस कश्चिद्भट के हाथ में सुलेख को दे दिया ॥१४॥ जब तक अजेय शक्ति वाला वह कश्चिद्भट उस लेख को पड़ता है तब उसका कण्ठ रूँध जाता है नेत्र आँसुओं से भर जाते हैं अर्थात्

स्मृत्वा पुनः स्वहृदये पितृमातृ-बन्धून्, निःश्वस्य दीर्घ-मथ तीव्र-मवाप दुःखं ।।१५।।
तं कम्पमान-हृदयं नयनाम्बुधारा-प्रक्षालिताननं-मवेक्ष्य नृपो जगाद।
प्रागेव वत्स विदितोऽसि मयानुमाना-च्छ्री-धर्मसेन-नृपसूनु-रिति त्व-मत्र ।।१६।।
स त्वं कथं वससि मत्पुरि गुप्तवृत्त्या, त्वत्तः परो न खलु बंधुजनो ममास्ति।
यस्याः सुतस्त्वमसि सा च गुणादिदेवी, यस्मात्सुशील-गुण-भूर्भगिनी मदीया ।।१७।।
दूरं प्रसार्य भुज-युग्म-मतीव मोहा - दालिङ्ग्य गाढ-मवनीपति-देवसेनः।
प्राहेति वत्स मम गोत्रमिदं पवित्रं, जातं तवागमनतोऽहमपीह धन्यः ।।१८।।
संभाष्यमाण-मिति भूपतिना वराङ्गं, दृष्ट्वा ननाम पदयोश्च स तस्य दूतः।
प्रोवाच नाथ! किल कांतपुराद्यदा त्वं, देशांतरं विधि-वशात्तुरगेण नीतः ।।१९।।
भूपाल-पुम्भि-रवनौ गिरि-गह्वरेषु, नाना-नदीषु गहनेषु विलोक्यमानः।
दृष्टस्तदा न नरनाथसुतागतं त्वा-मत्रापि नैव विविदुश्च गुणांबुराशिं ।।२०।।
उक्त्वेति तथ्यवचनं विरते च दूते, संतोषतस्तु वदति स्म स देवसेनः।
कन्याशतं मम गृहेऽस्ति गृहाण तत्त्वं, व्यावर्ण्य-यौवन-सुरूप-गुणाभिरामं ।।२१।।
वाचं वराङ्ग इति भूमि-पतेर्निशम्य,स्पष्टं बंभाण वचनं नृपतिं प्रतीह।
वाच्यं त्वया न पुनरेव-मिलेश! यस्मात्, पूर्णं विवाह-विधिना मम सर्वथापि ।।२२।।

नेत्रों से अश्रुधारा निकल पड़ती है फिर अपने हृदय में माता-पिता और बन्धुओं को स्मरण कर, इसके बाद दीर्घ श्वास छोड़ तीव्र दुख को प्राप्त हुआ ।।१५।। कम्पायमान हृदय वाले नयनों में अश्रु धारा से प्रक्षालित मुख वाले उस कश्चिद भट को देखकर राजा ने कहा हे वत्स! मुझे पहले से ही ज्ञात है इस प्रकार यहाँ मेरे अनुमान से तुम धर्मसेन राजा के पुत्र हो ।।१६।। वह तुम कैसे मेरी नगरी मेंगुप्त रीति से रहते हो, निश्चित ही तुमसे दूसरा कोई मेरा बन्धुजन नहीं है और जिसके तुम पुत्र हो वह गुणदेवी शील सद्गुणोंकी खान मेरी बहिन है ।।१७।। पृथ्वीपति देवसेन राजा ने मोह/प्रेम/स्नेह से भुजा युगल को बहुत अधिक दूर फैलाकर उस कश्चिद्भट को गाढ़ आलिंगन कर इस प्रकार कहा, हे वत्स तुम्हारे आगमन से मेरा यह गोत्र पवित्र हो गया, यहाँ पर मैं भी धन्य हो गया ।।१८।। उस दूत ने राजा के साथ वरांग को इस प्रकार बात करते हुए देखकर कश्चिद्भट के चरणों में प्रणाम किया और कहा हे नाथ! कान्तपुर से जब तुम कर्म के वश से घोड़े के द्वारा देशान्तर को ले जाये गये थे ।।१९।। तब राजपुरुषों के द्वारा पृथ्वी पर, गिरी, गुफाओं में अनेक नदियों में, वनों में, पर्वतों में, देखे गये तो भी तुम गुणसमुद्र को हे राजपुत्र यहाँ आये हुए नहीं देखा गया ।।२०।। इस यथार्थ वचन को सुनकर दूतके रुक जाने पर देवसेन राजा ने सन्तोष पूर्वक कहा मेरे घर में वर्णनीय यौवन वाली सौन्दर्य गुणों से सुन्दर सौ कन्याएँ हैं, तुम उनको ग्रहण करो ।।२१।। यहाँ पर इस प्रकार राजा के वचन को सुनकर वरांग ने राजा के प्रति स्पष्ट कहा हे राजन्! में विवाह की विधि से पूर्ण हूँ। अब फिर मुझे तुम्हारे द्वारा विवाह की बात नहीं कही जाना चाहिए ।।२२।।

ऊचे पुनर्नरपतिर्गिर-मित्युदारां, कन्यां गृहाण मम वत्स! मनोरमाह्वाम्।
एका-मतीव भवति प्रतिबद्ध-चित्तां, नित्यं गुणान्भवत एव हि संस्मरन्तीं ।।२३।।
श्रुत्वा नृपोक्त-वचनं च वचश्च दूत्या, स्मृत्वा स मौन-मवलम्ब्य विचिन्तयंस्ताम्।
यावत्स्थितो नृपतिना विदितोऽस्य भावस्तावन्मनोगत इहाशु विचक्षणेन ।।२४।।
लग्ने शुभे च सुतिथौ सुदिने नगर्यां, शोभां विधाय परमां स ददौ च कन्यां।
तस्मै विवाह-विधिना नृपतिस्तदानीं, पूर्णाभिलाष-हृदयापि मनोरमाभूत् ।।२५।।
सा तं मनीषित-मवाप्य वरं विदग्धा, फुल्लाननाभिलषितं सुख-माससाद।
लब्ध्वा स तां कनक-चंपक-गौरवर्णा, भूयोऽपि भोगनिकरं बुभुजे नितान्तम् ।।२६।।
जायासमेत - मवबुध्य वराङ्ग - राजं, श्रीदेवसेन - वसुधाधिपतेः समीपम्।
गच्छंस्तमेत्य वदति स्म पयोधिवृद्धिः, निर्विघ्न-मस्तु गमनं भवतो नितान्तं ।।२७।।
पुत्राह-मेमि भवतैव समं वराङ्ग!, त्वं यत्र तिष्ठसि [1]मयापि च तत्र नित्यं।
स्थेयं यतो हि विरहे भवतो न जीवं, धर्तुं क्षमाऽस्मि तव दर्शनविप्रमुक्तः ।।२८।।
तात! त्वया वन-गतः परिरक्षितोऽहं, तस्मात्त्वमेव जनको मम जीवितं च।
[2]यत्ते यथा मनसि सर्व-समीहितार्थः, संपादयामि खलु तानिति चाह भूपः ।।२९।।

१. मयानघं। २. येते।

फिर राजा ने उदार वाणी को कहा कि हे वत्स! मनोरमा नामक मेरी कन्या को ग्रहण करो। वह आप से अति मोहित है और वह हमेशा आपके गुणों को ही याद करती है ।।२३।। राजा के कहे हुए वचन को सुनकर और दूती के वचन को स्मरण कर राजा वरांग उस मनोरमा का चिन्तन करता हुआ मौन का अबलम्बन ले, जब तक ठहरता है तब तक बुद्धिमान राजा ने यहाँ पर शीघ्र इसके मनोगत भाव को जान लिया ।।२४।। शुभ लग्न, शुभ तिथि और शुभ दिन में नगर में उत्कृष्ट शोभा को करके उस समय उस राजा ने विवाह की विधि पूर्वक उस वरांग के लिए कन्या को दिया, तब मनोरमा भी पूर्ण अभिलाषा युक्त हृदय वाली हो गई ।।२५।। उस प्रसन्न मुख वाली चतुर मनोरमा ने मन चाहे वर को प्राप्त कर अभिलषित सुख को प्राप्त किया और वरांग भी सोने व चम्पक के समान गौर वर्ण वाली उस कन्या को प्राप्त कर अत्यधिक भोगोंके समूह को भोगने लगा ।।२६।। श्री देवसेन राजा के पास वरांग युवराज को अपनी पत्नी के साथ जान कर सागरवृद्धि सेठ ने वहाँ जाते हुए उनको प्राप्त कर कहा कि आप दोनों का गमन पूर्ण निर्विघ्न हो ।।२७।। हे पुत्र वरांग! मैं तुम्हारे साथ में ही जाऊँगा तुम जहाँ रहते हो, मैं भी वहीं हमेशा रहूँगा क्योंकि तुम्हारे विरह में, तुम्हारे दर्शन से रहित मैं जीवन को धारण करने में सक्षम/समर्थ नहीं हूँ ।।२८।। हे तात! वन को प्राप्त मैं तुम्हारे द्वारा सब प्रकार से सुरक्षित हुआ, इसलिए तुम ही मेरे पिता और जीवन हो, जो आपके मन में जैसे सभी मनोरथ हैं, उन सभी मनोरथों को मैं निश्चित पूर्ण करता हूँ, इस प्रकार युवराज वरांग ने कहा ।।२९।। राजा देवसेन ने घोड़े, हाथी, सेवक और रथों की पंक्ति से सुशोभित सेना

अश्वेभ - भृत्य - रथराजि - विराजमानं, सङ्गृह्य सैन्य-मवनीश्वर-देवसेनः।
जामातृ - बन्धुजन - मन्त्रिगणै - रुपेतस्तूर्णं, चचाल तनयायुगलान्वितश्च ।।३०।।
रत्नप्रवाल-मणि-मौक्तिक-काञ्चनाद्यैः, संपूर्य वस्तुनिकरैः शकटोत्तमानाम्।
एकं सहस्र-मथ सारवृद्धिनामा, राज्ञा समं प्रचलितः सफलामलाशः ।।३१।।
सप्रस्थितं वरतनुं शिबिकाधिरूढं, भार्याद्वयं विविध-भूषण-भूषितांगम्।
उद्योतिताभरणकांतिककुब्विभागं, सन्नाग्रतो मुदित-सागरवृद्धिना च ।।३२।।
मार्गे वराङ्ग - नृपतिश्चलितोऽथ वाग्भिर्वैतालिकैर्ललित -बन्ध -मनोहराभिः।
संश्रूयमाण इतरैरपि वीरवर्गैः, संसेव्यमान उदितामल-भानुकान्तिः ।।३३।।
गन्धर्व-तीक्ष्ण-खुर-खण्डितभूमि भागो, मत्तेभ-दन्त-दलिताखिल-शाखिशाखः।
सर्पत्पदाति-पद-पात-विमर्दिताश्मा, पश्चाच्चचाल ललितेश्वर-देवसेनः ।।३४।।
तुङ्गाश्व-पाद-खुर-पात-समुत्थ-रेणु,-व्याजा-दिहोर्ध्व-मगमत्परतोऽपि पृथ्वीं।
आव्याप्य दिक्तट-गता-मपि राजकीर्त्या, व्याप्तं क्रियद्गगन-मध्य-मितीव वेत्तुम्।।३५।।
सीमान्त-मेत्य विषयस्य निजस्य राजा,-रण्यं प्रविश्य तटिनी-गिरि-गह्वरादीन्।
उल्लङ्घ्य चाल्प-दिवसैर्विषयं समाप, श्रीधर्मसेन-नृपतेः स्वजनाब्ज-भानोः ।।३६।।

का संग्रह कर दामाद, बन्धुजन, मंत्रीगणों और दोनों पुत्रियों को लेकर शीघ्र ही कान्तपुर को चले ।।३०।। रत्न, मूंगा, मणि, मोती, सोने आदि और वस्तुओं के समूह से भरी हुई एक हजार श्रेष्ठ गाड़ियों के साथ सागरवृद्धि नामक सेठ ने राजा के साथ प्रस्थान किया वह सफल निर्मल आशा वाला था ।।३१।। अनेक प्रकार के आभूषोंसे सुसज्जित शरीर वाली प्रकाशित किया हैं आभरणों की कान्ति से दिशाओं को जिन्होंने ऐसे सुन्दर शरीर वाली पालकी (शिविका) में विराजमान वरांग की दोनों स्त्रियों ने प्रसन्न सागरवृद्धि नामक सेठ से आगे प्रस्थान किया ।।३२।। और भाटों के द्वारा सुन्दर रचनाओं से मनोहर वचनों के द्वारा सुने जाने वाले और अन्य वीरों के समूह के द्वारा अच्छी तरह सेवित हुए, उदित होते हुए निर्मल सूर्य की कान्ति के समान कान्ति वाले वरांग युवराज ने मार्ग मेंप्रस्थान किया ।।३३।। घोड़े के पैने खुरों से खण्डित भूमि भाग वाले, मत्त हाथियों के दाँत से दलित सम्पूर्ण वृक्ष शाखा वाले, दौड़ते हुए पैदल सिपाहियों के पैर के आघात से विमर्दित पत्थर वालें, ललित नगरी के राजा देवसेन ने वरांग के बाद प्रस्थान किया ।।३४।। यहाँ पृथ्वी के ऊपर बड़े घोड़ों के पैरों के खुरोंके आघात से उत्पन्न धूलि के बहाने से ऊपर दिशाओं के अन्त तक गई हुई राजकीर्ति के द्वारा भी सब ओर से व्याप्त होकर कितने आकाश के मध्य तक फैली है मानो वह धूलि उसी को जानने के लिये ऊपर गई हो ।।३५।। देवसेन राजा अपने देश की सीमा के अन्त को प्राप्त हो, जंगल में प्रवेश कर, नदी, पर्वत, खाई, गुफा आदि को पार कर थोड़े ही दिनों में स्वजन रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य स्वरूप श्री धर्मसेन राजा के देश को प्राप्त

आसन्न-वर्तिन-ममुं नृपधर्मसेनं, ज्ञात्वा स्थितः क्षिति-तलामल-भाग-मेकं।
आश्रित्य सैन्य-निवहार्णव-मध्यवर्ति, श्रीदेवसेन-नृपतिः स वराङ्ग एषः ॥३७॥
प्रस्थापितस्तदनु सागरवृद्धिराशु, श्रीधर्मसेननिकटं ललितेश्वरेण।
सेनासमूह-सहितोत्र समागतोऽस्मी-त्याशंसितुं नरपते! तव नंदनेन ॥३८॥
गत्वा स तत्र नृपपादयुगं प्रणम्य, सर्वं यथार्थ-मवदन्नृपतेः पुरश्च।
सोप्यागतं तमवबुध्य जयं स्वपक्षे, ज्ञात्वा पराजय-मरेर्वदति स्म भूपः ॥३९॥
भो सार्थनाथ! कुशली ललितेश्वरोऽसौ, क्षेमेण पालयति लोकमशेषमुच्चैः।
आपृच्छ्य वेति निखिलं बल-मप्यपृच्छत्, सन्तोषतो विकसितोरु-मुखारविन्दः ॥४०॥
के के नराःकति गजाश्च हयाः कियन्तो, भृत्या रथाश्च कति संति चमू समूहः।
पृष्टोऽवदन्नृपतिनेति स सार्थवाहो, हर्षप्रकर्ष-मधिकं जनयन्नृपस्य ॥४१॥
देवास्त्यराति-रणकेलि-विधौ विदग्धः, पृथ्वीपतिः प्रथित-वीरवराङ्गनामा।
येनेन्द्रसेन-नृपतिर्मथुरापुरीशो, भग्नो रणेऽस्य तनयश्च हतः प्रचण्डः ॥४२॥
कोयं वराङ्ग इति सार्थपते! त्वयोक्तः, कस्यात्मजः कथय मे पुनरेकवारम्।
पृष्टो बभाण स वणिक्तनयस्तवैव, देशांतरं क्षितिप! यस्तुरगेण नीतः ॥४३॥

हुए ॥३६॥ इस राजा धर्मसेन को समीपवर्ती जानकर पृथ्वी तल के एक निर्मल भाग को आश्रय कर सेना समूह रूपी समुद्र के मध्यवर्ती वरांग सहित यह श्री देवसेन राजा ठहर गया ॥३७॥ तदनन्तर ललितपुर के राजा देवसेन ने सागरवृद्धि सेठ को शीघ्र सूचना देने के लिये श्री धर्मसेन राजा के पास भेजा, हे राजन्! यहाँ पर मैं तुम्हारे पुत्र के वा सेना समूह के साथ आ गया हूँ ॥३८॥ उस सागरवृद्धि सेठ ने वहाँ जाकर राजा के चरण युगल को प्रणाम कर और राजा के आगे सभी यथार्थ बात को कहा, वह राजा भी उस देवसेन को आया हुआ जानकर अपने पक्ष मेंविजय को और शत्रु की पराजय को जानकर राजा ने कहा ॥३९॥ संतोष से विकसित है विशाल मुख रूपी कमल जिसका, ऐसे धर्मसेन राजा ने कहा—हे वणिक्पति! यह ललितपुर का स्वामी देवसेन राजा कुशलतापूर्वक तो है सम्पूर्ण लोगों को अत्यधिक अभयता पूर्वक पालन करता है, इस प्रकार पूछकर,सम्पूर्ण सेना की कुशलता को भी पूछा ॥४०॥ कौन-कौन मनुष्य कितने हाथी, कितने घोड़े, सेवक, रथ व सेना के समूह कितने हैं। इस प्रकार राजा के द्वारा वह वणिक्पति पूछा गया, राजा के हर्ष की प्रकर्षता/अधिकता को अधिक प्रकट करते हुए उस सेठ ने कहा ॥४१॥ हे देव! शत्रुओं के युद्ध की क्रीड़ा विधि में चतुर प्रसिद्ध वीर वरांग नामक राजा हैं, जिसने मथुरापुरी के स्वामी इन्द्रसेन राजा को युद्ध में भग्न किया और इसके प्रचण्ड पुत्र को युद्ध में मारा ॥४२॥ हे वणिक्पति, इस प्रकार तुम्हारे द्वारा कहा गया, यह वरांग कौन है, किसका पुत्र है, पुनः मुझे एक बार कहो, इस प्रकार पूछा गया वह सेठ बोला—हे राजन्! जो घोड़े के द्वारा देशान्तर को ले जाया गया, वह आपका ही पुत्र है ॥४३॥ और प्रसन्न होते हुए धर्मसेन राजा ने अपने पुत्र के आगमन को सुनकर अनेक

श्रुत्वागमं निजसुतस्य च धर्मसेनो, हृष्टः प्रपूज्य वचनाभरणैर्विचित्रैः।
तं सार्थवाह-मचलन्निज-पुत्रवर्य-मालोकितुं नरपतिं ललितेश्वरं च ।।४४।।
आयात-मेन-मवबुध्य वराङ्ग-राजः, तातं ययावभिमुखं श्वसुरेण सार्धं।
दूरा-दपेत-गज-वाजि-रथादियानः, पद्भ्यां प्रतापनिलयः सचिवैः (स)सुवेषैः ।।४५।।
आलिङ्ग्य गाढ-मवनीश्वर-देवसेनं, श्रीधर्मसेननृपतौ स्थितवत्यथाशु।
अभ्येत्य तोष-जनित-क्षरिताश्रु-नेत्रः, पादौ ननाम जनकस्य वराङ्गनामा ।।४६।।
आनन्दन -सञ्जनित -नेत्रजलं विमुञ्चन्, उत्थाप्य तं परम -तोष -वशीकृतात्मा।
दूरं प्रसारित-भुजद्वितयेन पुत्र,-मालिङ्ग्य गाढ-मधिकं सुख-माप राजा ।।४७।।
तत्रोपविश्य विरहोत्थ-मपास्य दुःखं, तौ देवसेन-वसुधा-पतिना समेतौ।
अन्योन्य-वीक्षण-विकासित-नेत्रपद्मौ, वार्तां च चक्रतु-रनेक-गुणप्रगल्भौ ।।४८।।
प्रारभ्य वाजि-हरण-प्रभृतिप्रसङ्गां, सर्वां कथां कथयति स्म वराङ्गराजः।
पित्रे निजां स मथुरेश-पराभवान्तां, शुश्राव सोप्यवनिपो महतादरेण ।।४९।।
श्रीदेवसेननृपतिं च पयोधि-वृद्धिं, श्रीमद्वराङ्ग-युवभूमिपतिं स राजा।
संभाष्य भूरिमधुरार्थ-वचोभि-रुच्चैस्तोषं जगाम च गुणान्प्रविलोक्य तेषाम् ।।५०।।

प्रकार के वचन रूपी आभरणों के द्वारा उस वणिक्पति को सम्मानित कर, अपने श्रेष्ठ पुत्र को और ललितपुर के स्वामी देवसेन राजा को देखने के लिए चला ।।४४।। प्रताप के स्थान वरांग राजा ने अपने पिता को सामने आया जानकर श्वसुर के साथ पिता के सामने हाथी घोड़े, रथ आदि की सवारी को दूर से ही छोड़कर उत्तम भेष वाले मंत्रियों के साथ पैरोंसेपैदल गया ।।४५।। राजा देवसेन को गाढ़ आलिंगन कर जैसे ही श्री धर्मसेन राजा के स्थित होने पर शीघ्र समीप मेंआकर सन्तोष से उत्पन्न झरते हुए अश्रु नेत्र वाले वरांग नामक युवराज ने पिता के पैरोंमें नमस्कार किया ।।४६।। आनंद से उत्पन्न आंसुओं को छोड़ते हुए परम संतोष से वश में किया है, आत्मा को जिसने, ऐसे राजाने उस पुत्र को उठाकर दूर फैलाए हुए भुजा युगल से अधिक गाढ़ आलिंगन करके सुख को प्राप्त किया ।।४७।। वहाँ पर बैठकर विरह से उत्पन्न दु:ख को दूरकर वे पिता पुत्र दोनोंदेवसेन राजा से सहित परस्पर एक दूसरे को देखने से विकसित नेत्र कमल वाले अनेक गुणों से प्रौढ़ उन दोनों ने वार्तालाप को किया ।।४८।। उस वरांग युवराज ने अपने पिता के लिए घोड़े के द्वारा हरे जाने आदि प्रसंगोंको प्रारम्भ कर मथुरा पति के पराभव के मध्य में होने वाली सभी कथा को कहा, उस धर्मसेन राजा ने भी बहुत आदर पूर्वक सुना ।।४९।। वह राजा धर्मसेन, श्री देवसेन राजा, सागरवृद्धि सेठ और श्रीमान् वरांग युवराज को बहुत मधुर अर्थपूर्ण वचनों के द्वारा सम्भाषण कर और उनके गुणोंको अच्छी तरह देखकर प्रबल सन्तोष को प्राप्त हुआ ।।५०।। राजाओं में

श्रुत्वा कुलाधिप-रिपु-र्ध्वजिनी-मरण्या,-दादाय ता-मुपगतौ नरनाथसिंहौ।
श्री देवसेन-नृप-वीर-वराङ्ग-राजौ, चक्रे पलायन-मनेक-बलान्वितोऽपि ॥५१॥
शत्रोः पलायन-मिलाधिप-धर्मसेनः, श्रुत्वा वचोहर-मुखात्त्वरितं सहर्षः।
व्याघुट्य कान्तपुर-मात्मसुतेन युक्तं, श्रीदेवसेन-वसुधा-पतिना विवेश ॥५२॥
घण्टावितान -मणि -तोरण -पुष्पमाला,-चामीकर-प्रकर-कुम्भ -विराजमानं।
पश्यन्ययौ निज-सुतेन स राजमार्गं, राजालयं ललित-वाद्य-निनाद-रम्यम् ॥५३॥
तत्रोपविश्य नृपतिः ससुतः सभायां, पुत्रागम-प्रमुदितः प्रविसर्ज्य लोकम्।
सम्भाषणं विरचयन्ललितेश्वरेण, श्रीधर्मसेन इति तं वदति स्म पुत्रं ॥५४॥
पुत्र! प्रयाहि जननी-मभिवादय स्वां, त्वं ते चिरं विरह-दुःख-निपीडिताङ्गीं।
तताज्ञया सदन-माप्य ततो जनन्यास्तस्या ननाम चरण-द्वितयं वराङ्गः ॥५५॥
उत्थाप्य तं तनय-माशु गुणादिदेवी, स्नेहोल्लसत्सुहृदया भृश-मालिलिङ्ग।
श्रीदेवसेन-तनये च वराङ्गभार्ये, तस्याः प्रणेमतु-रुभे चरणारविन्दे ॥५६॥
पुत्रं वधुयुगयुतं नव-यौवनाङ्गं, पुण्यप्रताप-विजिताखिल-वैरिवर्गं।
कीर्ति-प्रपूरित-समस्त दिगन्तरालं, दृष्ट्वा नरेन्द्र-दयिता-प्रमदं प्रपेदे ॥५७॥

सिंह के समान श्री देवसेन राजा और वीर वरांग राजा जंगल से उस सेना को लेकर धर्मसेन राजा के पास आए हैं, इस प्रकार सुनकर कुलाधिप शत्रु राजा, अनेक सेना सहित होने पर भी पलायन कर गया ॥५१॥ राजा धर्मसेन ने दूत के मुख से शत्रु के पलायन को सुनकर शीघ्र हर्ष पूर्वक वापिस लौटकर अपने पुत्र से सहित श्री देवसेन राजा के साथ कान्तपुर मेंप्रवेश किया ॥५२॥ राजा धर्मसेन ने अपने पुत्र के साथ, घंटों के समूह, मणि, तोरणों, फूलों की मालाओं, सोने के कलशों से शोभायमान राजमार्ग को देखते हुए मधुर वाद्य यंत्रोंकी ध्वनिसे युक्त सुन्दर राजमहल में प्रवेश किया ॥५३॥ पुत्र के आगमन से प्रसन्न होते हुए राजा श्री धर्मसेन ने वहाँ सभा में पुत्र सहित बैठकर लोगों को विसर्जित कर, ललितपुर पति देवसेन से संभाषण को करते हुए उस वरांग पुत्र को इस प्रकार बोले ॥५४॥ हे पुत्र! तुम शीघ्र जाओ, चिरकालीन विरह दुःख से पीड़ित शरीर वाली अपनी माता का अभिवादन करो। उसके बाद पिता की आज्ञा से वरांग ने घर आकर उस अपनी माता के चरण युगल को नमस्कार किया ॥५५॥ गुणदेवी ने उस पुत्र को शीघ्र उठाकर स्नेह से भरे हुए अच्छे हृदय से गाढ़ आलिंगन किया और देवसेन राजा की पुत्री वरांग की दोनों पत्नियों ने अपनी सासू के चरण कमलों में प्रणाम किया ॥५६॥ नवीन यौवन से युक्त शरीर वाले पुण्य के प्रताप से जीता है, समस्त शत्रुओं के समूह को जिसने और कीर्ति से भर दिया है समस्त दिशाओं के अन्तराल को जिसने ऐसे वधु युगल से युक्त पुत्र को देखकर राजरानी गुणदेवी प्रकृष्ट हर्ष को प्राप्त हुई ॥५७॥ उसके बाद बाजूबन्द हार मणि कुण्डल, मुकुट आदि से युक्त पत्नियों के शरीर की कान्ति से सब

कान्ताङ्ग-कान्ति-परिपूरित-वेश्मगर्भाः,केयूर-हार-मणि-कुण्डल-शेखराद्याः।
अभ्येत्य ता इह ततोऽनुपमादि-देव्यो, भर्तुः क्रमाब्ज-युगलं विनयाद्विनेमुः॥५८॥
आपृच्छ्य सोऽपि गुणभासि-निजप्रियाणां, क्षेमं समस्तमपि बन्धुजनं वचोभिः।
आश्वास्य भूमिपतिना जनता-समक्षं, दत्तं शुभेऽह्नि युवराज-पदं च लेभे॥५९॥

नाशं यान्ति नरामरासुर-कृता घोरोपसर्गा नृणां,
लक्ष्मी-राज्यपद-च्युता अपि नरास्तां ते लभन्ते पुनः॥
शङ्ख-क्षीर-पयोधि-फेन-धवलां कीर्तिं जिनाराधना-
च्छ्रीमद्वीर-वराङ्ग-वत्प्रतिदिनं, सान्द्राणि भद्राणि च॥६०॥
जातं कान्तपुरं महोत्सव-परं श्रीमद्वराङ्गागमे।
[1]आनन्दं खलु धर्मसेननृपतिः, श्रीदेवसेनोऽप्यगात्॥
सर्वं विस्मय-मागतं जग-दिदं पुण्यात्पुनर्देहिनां।
सिद्धिं यान्ति समीहितार्थ-निवहाः किं चित्र-मत्रास्ति तत्॥६१॥

१. स्वानन्दं।

श्रीपरवादिदन्तिपञ्चाननश्रीवर्द्धमानदेवभट्टारकविरचिते वराङ्गचरित्रे वराङ्गप्रत्यागमनपितृसङ्गनिरूपणो नाम दशमः सर्गः॥

ओर व्याप्त महल के मध्य भाग वाली उन अनुपमा आदि रानियों ने यहाँ समीप आकर पति वरांग के चरण कमल युगल में विनय पूर्वक नमस्कार किया॥५८॥ उस वरांग ने गुणों से सुशोभित अपनी पत्नियों की कुशलता को पूछा और सभी बन्धुजनों को वचनों के द्वारा आश्वासन देकर शुभदिन में जनता के सामने राजाके द्वारा दिये हुए युवराज पद को ग्रहण किया॥५९॥ जिनेन्द्र भगवान् की आराधना से मनुष्यों के, देवों और असुरों के द्वारा किए हुए भयंकर उपसर्ग नाश को प्राप्त होते हैं, लक्ष्मी और राजपद से च्युत हुए मनुष्य भी उसे पुनः प्राप्त करते हैं, शंख और क्षीरसमुद्र के फेन के समान धवलकीर्ति को प्राप्त करते हैं और श्रीमान् वीर वरांग के समान प्रतिदिन प्रचुर कल्याणों को प्राप्त करते हैं॥६०॥ श्रीमान् वरांग के आगमन होने पर कांतपुर में उत्कृष्ट महोत्सव हुए, धर्मसेन राजा और देवसेन राजा भी अति आनंद को प्राप्त हुए, यह सभी संसार विस्मय को प्राप्त हुआ तथा पुण्य से प्राणियों के इच्छित पदार्थों के समूह सिद्धि को प्राप्त होते हैं। यहाँ वह क्या आश्चर्य है॥६१॥

इस प्रकार श्री परवादी रूपी हाथियों के लिए सिंह स्वरूप श्री वर्धमान देव भट्टारक विरचित वरांग चरित्र से वरांग का वापिस आगमन पिता आदि के संयोग का निरूपण नामक दसवां सर्ग पूर्ण हुआ।

—-000000-—

एकादशः सर्गः

दानभोगान्तरायादि,-कर्मपाक-भवं फलम् । भुक्त्वा देशान्तरे गेहं, वराङ्गः पुनरराययौ ॥१॥
पितृमातृः प्रपूज्यात्र, भुञ्जानो विविधं सुखम् । समं ताभिर्निजस्त्रीभि-र्वराङ्गो वसति स्म सः ॥२॥
अथ श्रीदेवसेनोऽपि, गन्तुकामो निजं पुरम् । बभाणेति महीपालं, धर्मसेनं कृतादरः॥३॥
स्वदेशं गन्तु-मिच्छामि, धर्मसेनमहीपते! । कुरु राज्यं महाभाग!, पुत्रपौत्र-समन्वितः ॥४॥
पुत्र्यौ मे तव पुत्रस्य, भार्ये स्वगुणभूषणे । काले काले तयोर्भद्र!, चिन्तनीयं त्वया सखे ॥५॥
संपूज्य देवसेनस्तं, दिव्याम्बर-विभूषणैः । विससर्ज महीपालं, विनयावनत-[१]मस्तकम् ॥६॥
गत्वा श्रीदेवसेनोऽसौ, भगिन्या निकटं ततः । निजपुत्र्यौ करे तस्याः, समर्प्यापुच्छ्यतां मुदा ॥७॥
भ्रातरि स्नेह-चित्ताया, गुणदेव्याः समाप्य च । प्रियोक्ति-मानदानानि, चलितः स्वपुरं प्रति ॥८॥युग्मम् ॥
धर्मसेनो वराङ्गोऽपि, देवसेनं तमन्वगात् । प्रयाप्य दूरमेतौ च, सानन्दौ गृह-मागतौ ॥९॥
अल्पैर्विवेश सोहोभिः, सोत्साहो निजपत्तनम् । रत्न-तोरण-निर्माण,पताका-राजि-राजितम् ॥१०॥
स्वदेशं देवसेनेऽस्मिन् गते कान्तपुर-प्रभोः । पुत्रो निनाय कालं स्वं, भुञ्जानो विविधं सुखम् ॥११॥
प्रत्यर्थि-सार्थ-संहार-कीर्तिव्याप्त-दिगाननम् । अभ्येत्य मृगसेना सा, सपुत्रा मंत्रिणान्विता ॥१२॥

१. मस्तकः ।

दानान्तराय, भोगान्तराय आदि कर्मों के उदय से होने वाले फल को देशान्तर में भोगकर वरांग पुनः घर आ गये ॥१॥ यहाँ पर माता- पिता का आदर कर, उन अपनी स्त्रियों के साथ अनेक प्रकार के सुखों को भोगता हुआ वह वरांग रहता था ॥२॥ उसके बाद किया गया है आदर जिसका ऐसे श्री देवसेन राजा ने भी अपने नगर को जाने की इच्छा से धर्मसेन राजा को इस प्रकार कहा ॥३॥ हे धर्मसेन राजन्! मैं अपने देश को जाना चाहता हूँ, हे महाभाग आप पुत्र पौत्र से सहित राज्य करिए ॥४॥ अपने गुण रूपी अलंकारों से अलंकृत मेरी दो पुत्रियाँ आपके पुत्र की पत्नियाँ हैं, हे भद्र! आपके द्वारा समय-समय पर उनका ख्याल रखना योग्य ॥५॥ सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से उस देवसेन का आदर कर विनय से झुके हुए मस्तक वाले राजा को विदा किया ॥६॥ उसके बाद इस देवसेन ने बहिन के पास जाकर उसके हाथों में अपनी पुत्रियों को समर्पित कर उससे हर्षपूर्वक पूछ कर और भाई में स्नेहचित्त वाली गुणदेवी से प्रिय वचन, सम्मान व दान आदि को प्राप्त कर अपने नगर की ओर चल दिया ॥७-८॥ धर्मसेन और वरांग भी उस देवसेन के पीछे गये और कुछ दूर तक पहुँचा कर ये दोनों आनंदपूर्वक घर आ गये ॥९॥ उत्साह से सहित वह देवसेन राजा भी थोड़े दिनों में रत्न, तोरण से निर्मित पताकाओं की पंक्ति से सुशोभित अपने नगर में प्रविष्ट हुआ ॥१०॥ इस देवसेन राजा के अपने नगर जाने के बाद कान्तपुराधिपति श्री धर्मसेन राजा के पुत्र वरांग युवराज कई सुखों का आनंद लेता हुआ अपने समय को व्यतीत करने लगा ॥११॥ मृगसेना; सुषेण पुत्र और सुबुद्धि मंत्री से सहित शत्रुओं के समूह के संहार/विनाश से प्राप्त कीर्ति से व्याप्त दिशा रूपी मुख वाले वरांग को आकर बोली ॥१२॥ हे पुत्र! वहाँ हम लोगों के द्वारा किया हुआ

अपराधः कृतोऽस्माभिस्तत्र पुत्र! क्षमां कुरु। यतः कृतापराधेषु, सन्तो यांति न विक्रियाम् ।।१३।।युग्मं।।
किमेवं भाष्यते मातस्, त्वं मे माता हितोद्यता । सहोदरः सुषेणोऽसौ, सुबुद्धिः प्रियदायकः ।।१४।।
कथ्यतां कोऽपराधोऽत्र भवद्भिर्विहितो मयि । कारणेन विना केषु, का क्षमा क्रियते मया ।।१५।।
प्रपन्नाः शरणं येऽथ, जनाः सर्वापराधिनः । क्षमा मया त्रिशुद्ध्या च, कृता तेषु न संशय; ।।१६।।
भवद्भिर्नैव भेतव्यं, मत्तो न भवतां भयम् । किं केनापि क्वचिद् दृष्टं, चन्द्रा-दङ्गार-वर्षणम् ।।१७।।
करोमि सर्वलोकाना-महं सर्व-समीहितम् । तद्भवद्भिः सदा चिन्त्यं, भवतामेव चेष्टितम् ।।१८।।
इत्युक्त्वा वर-रत्नाद्यैः, संपूज्य विधिना स तान् । विससर्ज सुषेणाद्यान् वीतकोपो वराङ्गराट् ।।१९।।
अहो क्षान्ति-रहो धैर्य-महो शक्ति-रिति त्रयः । संस्मरन्तो वराङ्गस्य, गुणांस्ते सदनं ययुः ।।२०।।
सिंहासन-सुखासीनं, धर्मसेनं ततोऽन्यदा । वराङ्गोऽवोच-दभ्येत्य, समं सागर-वृद्धिना ।।२१।।
त्वत्प्रसादान्मया देव!, प्राप्त-मैस्वर्य-मद्भुतं । मनोरथा विना यत्नात्सर्वेसिद्धि-मुपागताः ।।२२।।
प्रमाणीक्रियतां तात!, मद्विज्ञप्ति-मतः परम् । यौवराज्य-मिदं देहि, सुषेणायाग्रजाय मे ।।२३।।
सुषेणो जन्मना ज्येष्ठो, मत्तः सर्वगुणै-रपि । वोढुं क्षमस्ततो राज्यभारं नाथ! तवाज्ञया ।।२४।।
वसता-मत्र पुर्यां ते, सुषेणस्य मम प्रभो । त्रयाणां कुर्वतां राज्यं विक्रमस्य न योगता ।।२५।।

अपराध क्षमा करो, क्योंकि संत पुरुष अपराध करने वालों के ऊपरभी विकार को प्राप्त नहीं होते ।।१३।। हे मात! आप इस प्रकार क्यों कहती हों आप मेरे हित में तत्पर माता हो, यह सुषेण सहोदर भाई है और सुबुद्धि मन्त्रि प्रिय को देने वाला हैं ।।१४।। यहाँ आप लोगों के द्वारा किया हुआ मेरे ऊपर क्या अपराध है आप कहें। कारण के बिना किन पर मेरे द्वारा क्या क्षमा की जाये ।।१५।। और जो सभी अपराधी मनुष्य शरण को प्राप्त हैं, वे मेरे द्वारा मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक क्षमा किये गये हैं, उन के विषय में संशय नहीं है ।।१६।। आप लोगों को मुझ से नहीं डरना चाहिये, मुझे भी आप लोगों से कोई भय नहीं है, क्या कभी किसी के द्वारा कहीं भी चन्द्रमा से अंगार की वर्षा को देखा गया है ।।१७।। मैं सभी लोगों का सब प्रकार से मनचाहा हित करता हूँ, आप लोगों के द्वारा वे अपनी ही चेष्टायें हमेशा चिन्तनीय हैं ।।१८।। इस प्रकार कह कर क्रोध से रहित वह वरांग राजा श्रेष्ठ रत्न आदि के द्वारा उन सुषेण आदि को विधि पूर्वक, सम्मानित कर भेज देता है ।।१९।। अहो वरांग की क्षमा अहो धैर्य, अहो शक्ति इस प्रकार वरांग के गुणों को स्मरण करते हुए वे तीनों घर को गये ।।२०।। उसके बाद अन्यदिन सिंहासन पर सुखपूर्वक बैठे हुए धर्मसेन राजा को सागरवृद्धि के साथ, वरांग ने पास में आकर कहा ।।२१।। हे देव! आपकी कृपा से मुझे अद्भुत ऐश्वर्य प्राप्त है, बिना प्रयत्न के सभी मनोरथ सिद्धि को प्राप्त हुए हैं ।।२२।। हे पिताजी! मेरी प्रार्थना को स्वीकार करें। इससे आगे यह युवराज पद मेरे बड़े भाई सुषेण के लिए दे दीजिए ।।२३।। सुषेण जन्म से और सभी गुणों में भी मुझसे ज्येष्ठ है, इसलिए हे नाथ! आपकी आज्ञा से राज्य के भार को वहन, करने में समर्थ है ।।२४।। हे प्रभो! इस नगरी में आपके, सुषेण के और मेरे रहते हुए, तीनों के राज्य करते हुए पराक्रम का संयोग नहीं मिलता ।।२५।। और अपने पिता को इस प्रकार सूचित कर वरांग

स्व-तात-मिति विज्ञाप्य, सुषेणाय वराङ्गराट् । प्रदाप्य यौवराज्यं च जगादेति विवेकधीः ॥२६॥
अधुनाह-मरीञ्जेतु-मिच्छामि मनुजेश्वर! । तवाज्ञया ततस्तात!, प्रसीद मयि सर्वथा ॥२७॥
श्रुत्वा तद्वचनं राजा, जगाद सुत-वत्सलः । किमेवं भाषितं भद्र!, त्वयात्यन्त-विवेकिना ॥२८॥
गतिस्त्वमेव मे पुत्र!, त्वमेव मम जीवितं । त्राता त्वं चास्य लोकस्य, क्व गच्छसि विमुच्य मां ॥२९॥
श्रुत्वा पितुर्वचोऽवादीद्, वराङ्गो मधुरं वचः । भवतो मयि वात्सल्यं तात! जानास्य(म्य)कृत्रिमम् ॥३०॥
तथाप्यपूर्वभूभागसाधने मम शेमुषी। उद्युङ्क्ते साम्प्रतं तस्मा-दादेशं दातु-मर्हसि ॥३१॥
ज्ञात्वा दृढोद्यमं शत्रु,-साधने पुत्र-मात्मनः । राजोवाचेति सम्पूर्णास्ते, भवन्तु मनोरथाः ॥३२॥
मन्त्रिणोऽस्मत्कुलायाताश्चत्वारोऽपि सुतान्वहं । भजन्तु तव सान्निध्यं, समं सागरवृद्धिना ॥३३॥
तथेति प्रतिपद्यासौ, वराङ्गो जनकोदितम् । सुलग्ने कान्तपुर्याश्च, प्रणम्य पितरावगात् ॥३४॥
चतुरङ्ग-बलोपेतश्चतुभिर्मन्त्रिभिर्वृतः । स सार्धं सार्थनाथेन, चलितः परया श्रिया ॥३५॥
ढक्का-डिम्डिम-निस्साण-शृङ्ग-शङ्ख-रवैर्दिशां । मुखानि पूरयन्ती सा, चलिता तद्वरूथिनी ॥३६॥
जगर्जुर्दन्तिनः स्कन्धान्दुधुवुर्वाजिनो वराः । समं हेषारवै राज्ञः, सेनायां जयसूचकाः ॥३७॥
चेलुर्वीरा रथारूढा, भ्रत्याश्चापि धनुर्द्धराः । बभूवुः शकुनाः सर्वे, तत्प्रयाणे जयप्रदाः ॥३८॥

राजा ने सुषेण के लिये युवराज पद देकर, उस विवेक बुद्धि वाले ने इस प्रकार कहा ॥२६॥ हे मनुजेश्वर! आपकी आज्ञा से इस समय मैं शत्रुओं को जीतना चाहता हूँ इसलिए हे तात! मुझ पर सब प्रकार से प्रसन्न होईए ॥२७॥ उस वरांग के वचन को सुनकर पुत्र वात्सल प्रेमी राजा ने कहा हे भद्र! अत्यन्त विवेकी तुम्हें क्या इस प्रकार कहना चाहिए ॥२८॥ हे पुत्र! तुम ही मेरी गति हो, तुम ही मेरे जीवन हो और तुम ही इस लोक के रक्षक हो, मुझे छोड़कर तुम कहाँ जाते हो ॥२९॥ पिता के वचन सुनकर वरांग ने मधुर वचन कहे—हे पिताजी! मैं जानता हूँ कि मेरे ऊपर आपका अकृत्रिम/स्वाभाविक वात्सल्य है ॥३०॥ तो भी इस समय मेरी बुद्धि अपूर्व भूभाग को साधने में लगी हुई है, इसलिए आप आदेश देने के योग्य हैं ॥३१॥ शत्रु को साधने में अपने पुत्र के दृढ़ उद्यम को जानकर राजा ने इस प्रकार कहा कि तुम्हारे सभी मनोरथ पूर्ण हों ॥३२॥ हे पुत्र! हमारे कुल से आये हुए चारों ही मंत्री, सागरवृद्धि सेठ के साथ तुम्हारे सान्निध्य को प्राप्त हों ॥३३॥ पिता के कहे हुए को वैसा ही हो, यह वरांग ने स्वीकार किया और शुभ लग्न में माता-पिता को प्रणाम कर कान्तपुर से निकला ॥३४॥ वह वरांग चतुरंग सेना से सहित चारों मंत्रियों से घिरा हुआ, वणिक् पति सागर वृद्धि के साथ उत्कृष्ट लक्ष्मी सहित निकला ॥३५॥ ढक्का/ढोल, डिंडिम, निस्साण (वाद्य विशेष) शृंग, शंख आदि की आवाज से दिशाओं के मुखों को भरती हुई वह उसकी सेना चली ॥३६॥ राजा की सेना में विजय सूचक हाथी गर्जना करने लगे, वे श्रेष्ठ घोड़े हिनहिनाहट की आवाज के साथ कंधों को हिलाने लगे ॥३७॥ रथों में सवार वीर योद्धा चले और धनुषों को धारण करने वाले सेवक भी चले, उस वरांग के प्रस्थान में सभी शकुन विजय को प्रदान करने वाले हुए थे ॥३८॥ मत्त हाथी पर सवार हो सेना रूपी सागर के मध्य को प्राप्त, सफेद छत्र से पहिचानने योग्य

आरुह्य मत्तमातङ्गं वराङ्गो मेदिनीपतिः । श्वेतच्छत्रेण संलक्ष्यः सेनासागरमध्यगः ॥३९॥
सिताभ्यां चामराभ्यां च, वीज्यमानो हितैषिभिः । सामन्तैः सेव्यमानश्च चलितोऽचलशासनः ॥४०॥युग्मं॥
नगापगाटवीघोषस्थानान्युल्लङ्घ्य भूपतिः । शनैर्देशान्तरं प्राप स्वर्गखण्डोपम श्रिया ॥४१॥
अपश्यत्पर्वतं तत्र, मणिमन्तं महीपतिः । अदूरवर्तिनीं तस्मान्नदीं नाम्ना सरस्वतीं ॥४२॥
दृष्ट्वा रम्यं स्थलं राजा, मनोनयन-तोषदम् । नदीपर्वतयोर्मध्ये तत्र सैन्य-मवासयत् ॥४३॥
सोऽत्र जीर्ण-पुराकार-लक्षणं वीक्ष्य भूतलम् । अपृच्छद् घोष-वृद्धान्स्व-सेवायै समुपागतान् ॥४४॥
घोषवृद्धाः प्रदेशोऽयं, कस्माज्जीर्णपुरोपमः । दृश्यते ब्रूत यद्यूयं, पूर्ववृत्तान्त-कोविदाः ॥४५॥
एतेषामग्रणीः कश्चिद्,घोषवृद्धो नृपं प्रति । इति विज्ञापयामास, विनयेन कृताञ्जलिः ॥४६॥
हते रणाङ्गणे देव!, जरासिन्धौ मुरारिणा । ननृतुर्यादवाः सर्वे, स्वपराक्रम-गर्विताः ॥४७॥
आनर्तपुरमित्यासीत्-ततोऽत्र प्रथितं पुरा। शून्यं बभूव कालेन, कियतापि च तत्प्रभो ॥४८॥
वापी-कूप-तडागान्यर्हत्प्रासादान्यमूनि हि । दृश्यन्तेऽद्यापि तस्यैव, लक्षणानीह भूतले ॥४९॥
वरांगस्तद्वचः श्रुत्वा, सम्पूज्य विससर्ज तान् । घोषवृद्धान्यथायोग्यं, तं नमस्कृत्य ते ययुः ॥५०॥
सम्मन्त्र्य मन्त्रिभिः सार्ध,मनन्ताद्यैर्महीपतिः । शशास नगरं कर्तुं, मन्त्रिणस्तान् शुभे दिने ॥५१॥
प्राकार-खातिका-लोक-निकेतन-जिनालयैः । तोरणैर्गोपुरै रम्यैर्मन्त्रिभि स्थापितं पुरम् ॥५२॥

दिखाई देने वाला, हित को चाहने वाले सेवकों के द्वारा सफेद चामरों से वीज्यमान (ढोरा गया) और सामंतों से सेव्यमान अचल शासन (दृढ़ आज्ञा) वाला भूमिपति वरांग चला ॥३९-४०॥ पर्वतों, नदियों, अटवियों, ग्वालों के स्थानों को उल्लंघ कर राजा वरांग लक्ष्मी से स्वर्गखण्ड के समान उपमा वाले देशान्तर को धीरे-धीरे से प्राप्त हुआ ॥४१॥ वहाँ पर राजा ने मणिमंत पर्वत को और उसके निकट बहने वाली सरस्वती नामक नदी को देखा ॥४२॥ राजा वरांग ने मन और नेत्रों को आनंद देने वाले सुन्दर स्थल को देखकर वहाँ पर नदी और पर्वत के मध्य में सेना को ठहराया ॥४३॥ यहाँ पर वरांग राजा ने पृथ्वी पर पुराने नगर के आकार के लक्षण/चिह्न को देखकर अपनी सेवा के लिए आये हुए वृद्ध गोपालों से पूछा ॥४४॥ हे गोपाल वृद्धों। कहिए यह प्रदेश किस कारण से पुराने नगर के समान दिखाई देता है। क्योंकि तुम लोग पूर्व वृत्तान्त को जानने वाले हो ॥४५॥ इनमें से कोई प्रधान वृद्ध गोपाल ने राजा के प्रति हाथ जोड़कर विनय से इस प्रकार कहा—॥४६॥ हे देव! युद्ध स्थल में श्री कृष्ण के द्वारा जरासिंध के मारे जाने पर अपने पराक्रम से गर्व युक्त सभी यादवों ने नृत्य किया था ॥४७॥ उसके बाद यहाँ पहले पूर्व काल में प्रसिद्ध आनर्तपुर था हे प्रभो! वह कुछ काल से शून्य हो गया है ॥४८॥ ये वापी (बावड़ी), कुआँ, तालाब और जिनमन्दिर आज भी उस नगर के ही लक्षण यहाँ पृथ्वी तल पर दिखाई देते हैं ॥४९॥ वरांग ने गोपाल वृद्धों के वचन सुनकर उन गोपाल वृद्धों का यथायोग्य सम्मान कर विदा कर दिया, वे भी उस वरांग को नमस्कार कर चले गये ॥५०॥ राजा ने अनंत आदि मंत्रियों के साथ मंत्रणा कर शुभदिन में उन मंत्रियों को नगर निर्माण करने की आज्ञा दी ॥५१॥ मंत्रियों के द्वारा नगर में सुन्दर कोट-खाई, लोक गृह, जिनालय, तोरण, गोपुर, स्थापित किये गये ॥५२॥ और नगर के मध्य भाग में ऊँचे पृथ्वी तल पर अनेक

पुरमध्यप्रदेशे तु, समुन्नत-महीतले । अनेकशिल्पशास्त्रज्ञैः, स्थापितं राजमन्दिरम् ॥५३॥
सुवर्णस्तम्भसङ्कीर्णो, भूषितो मणिदर्पणैः । राजालयपुरोभागो, श्रीसभामण्डपो बभौ ॥५४॥
भाण्डारं रहोवेश्म वारिगेहं महानसं । तत्रान्येन्तःपुरावासा, स्वर्णधान्यालया बभुः ॥५५॥
नानाशिलाविनिर्माणै, राजवेश्मसमीपगं । कारितं क्षितिनाथेन, जिनायतन-मुन्नतं ॥५६॥
प्राकारो वलयाकारो, गोपुरद्वारभूषणः । समन्ततो व्यभा-दुच्चैर्वेष्टयित्वा जिनालयम् ॥५७॥
गृहं सारवृद्धेश्च, मन्त्रिणा-मधिकारिणां । पुरोधसां च पौराणां, निलयास्तत्पुरे बभुः ॥५८॥
पदाति-जन-वेश्मानि, गजशालाश्च मन्दुराः । रम्य-हर्म्यापण-श्रेण्यो, विरेजु राजमार्गगाः ॥५९॥
विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्र-जातियोग्य गृहाणि च । यथायोग्य-प्रदेशेषु बहूनीह बभुः पुरे ॥६०॥
पुरे सर्वासु वीथीषु, करिताः सुकृतार्थिभिः । पुण्यपुञ्जा इवाभान्ति, [१]तत्र तत्र जिनालयाः ॥६१॥
मृदङ्ग-काहला-भेरी, ताल-शङ्ख-रवै-रमी । मेघ-गम्भीर-निर्घोषान्निराकुर्वन्ति सर्वदा ॥६२॥
कासारैर्दीर्घिकाभिश्च, तडागैः पद्म-मण्डितैः । कूप-प्रपाद्यै-रभितः, शोभामाप पुरी पराम् ॥६३॥
जम्बु-दाडिम-जम्बीर-पनसाम्र-वदर्यगैः । रम्भा-कपित्थ-खर्जूर-द्राक्षा-क्रमुक-भूरुहैः ॥६४॥
मधूक-बिल्व-नारङ्गी-चिञ्चिणी-बीज-पूरकैः । मालती-केतकी-कुन्द-बकुलाशोक-चम्पकैः ॥६५॥

---

१. यत्र ।

शिल्प शास्त्र के ज्ञाताओं के द्वारा राज मंदिर (राजभवन) स्थापित किया गया ॥५३॥ सोने के स्तम्भों से व्याप्त, मणि दर्पणों से विभूषित, राजमहल के पूर्व भाग में श्री सभामंडप सुशोभित था ॥५४॥ वहाँ पर दिशानुकूल यथायोग्य भड़ार गृह, गुप्त गृह, जलगृह, रसोई घर, अंतःपुर-आवास, स्वर्णगृह और धान्य गृह शोभित हो रहे थे ॥५५॥ अनेक प्रकार की शिलाओं के निर्माणों के द्वारा राजभवन के पास राजा वरांग के द्वारा उन्नत जिन मन्दिर बनवाया गया ॥५६॥ उन्नत जिनालय को घेरकर सब ओर से गोलाकार गोपुर द्वारों से विभूषित ऊँचा कोट सुशोभित था ॥५७॥ उस नगर में सागरवृद्धि सेठ, मंत्रियों और अधिकारियों, पुरोहितों और नगर निवासियों के घर शोभित थे ॥५८॥ पदातिजनों के भवन गजशाला, अश्वशाला, राजमार्ग में स्थित सुन्दर मकानों और दुकानों की पंक्तियाँ सुशोभित थी ॥५९॥ यहाँ नगर में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र जाति के योग्य घर यथायोग्य प्रदेशों (स्थानों) में बहुत शोभित थे ॥६०॥ नगर में सभी गलियों में पुण्य को चाहने वाले पुरुषों के द्वारा पुण्य की राशि के समान यहाँ-वहाँ जिनालय सुशोभित हैं ॥६१॥ ये जिनालय मृदंग, काहल, भेरी, ताल और शंख इनकी ध्वनि से मेघों के गम्भीर शब्दों को हमेशा परास्त करते हैं ॥६२॥ सरोवरों, वापियों और कमलों से व्याप्त तालाबों से कुओं और प्रपातों, झरनों से नगरी उत्कृष्ट शोभा को प्राप्त थी ॥६३॥ जामुन, अनार, जंबीर/जिमरिया/नीबू(चकोतरा) पनस/पायनाफल/कटहल, आम, बेरी, केला, कैथा, खजूर, द्राख, अंगूर, सुपारी इन वृक्षों से, महुआ, बेल, नारंगी, संतरा, इमली, बिजौरा, मालती, केतकी, कुन्द, वकुल, अशोक, चम्पक, शीशम, पाटलि, गुलाब, पादर का फूल, केसर, दुपहरी का फूल, श्वेत गुलाब, जूही, कनेर आदि उत्तम पुष्पों को उत्पन्न

शिरीष-पाटली-चारु-बन्धूक-शतपत्रिका । यूथिका-कण-वीराद्यैः, सत्पुष्पप्रसवैर्द्रुमैः ॥६६॥
उद्यानानि पुरेऽभूवन्,सर्वत्र सुखदानि तु । समस्त-वस्तु-पूर्णानि, गृहाणि गृहिणा-मिव ॥६७॥कुलकं॥
देश-कोष-बलै-र्ग्राम-खेट-कर्वट-पत्तनैः । वराङ्गो ववृधे नित्यं, शत्रुगोत्रभयङ्करः ॥६८॥
तस्मिन्वितन्वति क्षेमं, राज्ञि लोका निरन्तरम् । मनोवाञ्छित-सौख्यानि, सुलभानि प्रपेदिरे ॥६९॥
सतोरणानि वेश्मानि, सोत्सवानि सदा बभुः । सानन्दा सरलालापाः, सुवेषास्तत्र सज्जनाः ॥७०॥
सर्वोपद्रव-निर्मुक्ताः, सर्वावयव-सुन्दराः । सद्धर्म-निरता रेजुस्, तत्र पुर्यां महाजनाः ॥७१॥
अखण्डित-प्रतापोऽन्यैः, सद्वृत्तै-र्विहित-क्रियः । सागरान्तां धरां राजा, प्रशासारिमर्द्दनात् ॥७२॥
तमन्यदासौ सस्मार, पितुः शत्रु-कुलाधिपं । कृतापराधं मर्मज्ञो, वराङ्गो वसुधापतिः ॥७३॥
देशान्तरं गतं श्रुत्वा, यो मां मे पितरं प्रति । एत्य जित्वा सुषेणं च, ननाश विषयं कुधीः ॥७४॥
स त्वं सत्वर-मागत्य, कुरुसेवां कुलाधिप! । भूपतेर्धर्मसेनस्य, सर्वस्वं देहि मद्गुरोः ॥७५॥
मया विधेहि वा युद्धं, दूरतस्त्वं पलायनम् । अन्यथा नैव मुञ्चामि, भवन्त-मपराधिनम् ॥७६॥
इत्याक्षेप-वचोयुक्तं, लेखं दत्वा वचोहरम् । भूपः प्रस्थापयामास, कुलाधिप-नृपान्तिकम् ॥७७॥
गत्वा कुलाधिपस्यापि समीपं स वचोहरः । दत्वा लेखं प्रणम्याशु निषण्णश्चोचितासने ॥७८॥
गृहीत्वात्मकरे लेखं, पठति स्म कुलाधिपः । ज्ञात्वा तदर्थ-माहूता, मन्त्रिणस्तेन कोविदाः ॥७९॥

करने वाले वृक्षों से समस्त वस्तुओं से भरे हुए गृहस्थों के घरों के समान नगर में सर्वत्र सुखदायी उद्यान थे ॥६४-६७॥ शत्रु वंश के लिए भयंकर वरांग राजा देश, कोष/खजाना,सेना, ग्राम, खेट, कर्वट, पत्तनों के द्वारा सदा वृद्धि को प्राप्त हो रहा था ॥६८॥ उस वरांग राजा के निरन्तर क्षेम/कल्याण/कुशलता को विस्तृत करने पर प्रजाजन सुलभ, मनोवांछित सुखों को प्राप्त कर रहे थे ॥६९॥ वहाँ पर सज्जन लोग सरलभाषी उत्तम वेशभूषा वाले तोरण मालाओं से अलंकृत घरों में सदा उत्सव उत्साहपूर्वक रहते थे ॥७०॥ वहाँ आनर्तपुर नगरी में महाजन लोग सभी उपद्रवों से रहित सभी अवयवों से सुन्दर सद्धर्म जैनधर्म में अनुरक्त होते हुए सुशोभित थे ॥७१॥ अखण्डित प्रताप वाला, अन्य सदाचारों द्वारा हुई क्रियाओं वाला, राजा वरांग शत्रुओं का मर्दन करने से सागरान्त पृथ्वी का पालन करता था ॥७२॥ एक दिन इस मर्मज्ञ वरांग राजा ने किये हुये अपराध वाले उस पिता के शत्रु कुलाधिप राजा को स्मरण किया ॥७३॥ जिस खोटी बुद्धि वाले ने मुझे देशान्तर गया हुआ सुनकर मेरे पिता के प्रति आकर और सुषेण को जीत कर देश को नष्ट किया था ॥७४॥ हे कुलाधिप! तुम शीघ्र आकर मेरे पिता राजा धर्मसेन की सेवा करो और सब धन अर्पण करो ॥७५॥ तुम मुझ से युद्ध करो अथवा दूर भाग जाओ तुम अपराधी को मैं अन्य प्रकार से नहीं छोड़ सकता ॥७६॥ इस प्रकार आक्षेप के वचन से युक्त लेख को दूत को देकर राजा वरांग ने कुलाधिप राजा के पास भेज दिया ॥७७॥ वह दूत भी कुलाधिप राजा के पास जाकर शीघ्र प्रणाम कर लेख को देकर उचित आसन पर बैठ गया ॥७८॥ कुलाधिप ने अपने हाथ मेंलेख को ग्रहण कर पढ़ा उसके अभिप्राय को जानकर उसने बुद्धिमान मंत्रियों को बुलाया ॥७९॥ उस कुलाधिप राजा ने एकांतदेश

सर्वं सम्भाषितं तेन, तेषामग्रे मनोगतं । भूभुजैकान्तदेशे च, वराङ्ग-नृपचेष्टितम् ॥८०॥
पराक्रमेण वित्तेन, वराङ्गो बल-सम्पदा । बलवान्सर्वभूपेभ्यः, साधितारातिमण्डलः ॥८१॥
स्मृत्वा कृतापराधं मां, निष्ठुरं भाषते रुषा । बहुलं बलमादाय, योद्धु-मागन्तु-मिच्छति ॥८२॥
स येन शान्तिमाप्नोति, तमुपायं वदन्तु मे । इत्युक्ता मन्त्रिणोऽवोचन्स्व-स्वामि-हितकाङ्क्षया ॥८३॥
युद्धे जेतु-मशक्योऽयं वराङ्गो बलवान्विभो । कन्याधन-प्रदानेन, शमं याति न चान्यथा ॥८४॥
श्रुत्वा राजा वचस्तेषां, तथेति प्रतिपद्य च । कन्यामादाय सैन्येन, वराङ्गान्तिकमाययौ ॥८५॥
सिंहासनोपविष्टं तं, वराङ्गं प्रणिपत्य सः । जगौ कृतापराधं मां, रक्ष त्वं करुणां कुरु ॥८६॥
प्रवृद्धो महतां कोपः, प्रणिपातेन शाम्यति । उत्स्फुलिङ्गो दहन्विश्वं, वारिणेव विभावसुः ॥८७॥
कुलाधिपः प्रभाष्येवं, तच्चित्त-महरत्तदा । स तस्मै कृतवान्भूपः, प्रसादं भद्रमानसः ॥८८॥
जातोऽधुना कृतार्थोऽहं, प्रसादादस्य भूपते । वदन्निति वराङ्गाय, ददौ कन्यां मनोहराम् ॥८९॥
वरयोषिच्छतोपेतां, दत्वा कन्यां मनोहराम् । अदाच्छतं गजानां च, सहस्रं वर-वाजिनाम् ॥९०॥
एकां हिरण्यकोटीं च, स दत्वा बन्धुतां गतः । भूपतेर्भूरिभाग्यस्य वराङ्गस्य महात्मनः ॥९१॥
मनोहरां प्रियां प्राप्य राजा राजीवलोचनां । यत्सुखं रतिजं भेजे कस्तद्वर्णयितुं क्षमः ॥९२॥

में उन मंत्रियों के सामने अपने सभी मन में स्थित अभिप्राय और वरांग राजा की चेष्टा/चरित्र को कहा ॥८०॥ सेना, सम्पदा, पराक्रम और धन में वरांग राजा सभी राजाओं से बलवान है, उसने शत्रु समूह को जीता है ॥८१॥ मेरे किये अपराध को स्मरण कर क्रोध से निष्ठुर कठोर बोलता है, बहुत भारी सेना को लेकर युद्ध करने के लिए आना चाहता है ॥८२॥ वह वरांग राजा जिससे शान्ति को प्राप्त हो, उस उपाय को मुझसे कहो इस प्रकार राजा ने कहा, अपने स्वामी के हित की इच्छा से मंत्रियों ने कहा ॥८३॥ हे राजन्! यह वरांग बलवान हैं, युद्ध में जीतना अशक्य है, कन्या और धन के देने से शान्ति को प्राप्त होगा, अन्य प्रकार से नहीं ॥८४॥ और राजा ने उन मंत्रियों के वचन को सुनकर वैसा ही हो, इस प्रकार कह कर सेना के साथ कन्या को लेकर वरांग के पास आया ॥८५॥ उस कुलाधिप राजा ने सिहांसन पर बैठे हुए उस वरांग राजा को नमस्कार कर कहा, कि तुम किये हुए अपराध वाले मेरी रक्षा करो और मुझ पर करुणा करो ॥८६॥ महापुरुषोंका बड़ा हुआ क्रोध नमस्कार करने से ही शान्त होता है, उठते हुए फुलिंगोंवाली विश्व को जलाती हुई अग्नि पानी से ही शान्त होती है ॥८७॥ उस समय कुलाधिप राजा ने प्रणाम से ही उस वरांग के चित्त को हर लिया, सरल मन उस वरांग राजा ने उस कुलाधिप राजा के लिए कृपा की ॥८८॥ इस राजा की कृपा से आज मैं कृतार्थ हुआ हूँ। इस प्रकार बोलते हुए वरांग के लिये मनोहर कन्या को दिया, सौ उत्तम स्त्रियों से सहित मनोहर कन्या को देकर सौ हाथी और हजार श्रेष्ठ घोड़ों को दिया ॥८९-९०॥ वह कुलाधिप एक करोड़ स्वर्ण मुद्राओं को देकर महा भाग्यवान वा अतिशय सज्जन वरांग राजा की बन्धुता को प्राप्त हुआ ॥९१॥ राजा वरांग ने कमल के समान नेत्रों वाली मन को हरण करने वाली सुन्दर प्रिया पत्नी को प्राप्त कर रति से उत्पन्न जो सुख भोगा उस सुख का वर्णन करने

कुलाधिपस्तमन्येद्युर्देशं जिगमिषुर्निजं ।।। श्रीवराङ्गमुवाचेति, भक्त्या मधुरया गिरा ।।९३।।
भूपाद्यारभ्य जातोऽस्मि, कृतार्थस्त्वत्प्रसादतः । महतामपि मान्योहं, जामातृत्वं गते त्वयि ।।९४।।
सुता मनोहराह्वा मे, सौभाग्त्यैकगुणालया । त्वपाणिपीडनाज्जाता, धन्येयं जगतीतले ।।९५।।
समाप्तभीष्टाकार्योहं ततो भूप! तवाज्ञया । स्वदेशं गन्तुमिच्छामि, मुञ्च मा वशवर्तिनम् ।।९६।।
तं प्रपूज्य ततो राजा, नानावस्त्रविभूषणैः । सन्तोष्य मृदुवाग्दानैर्विसजर्ज कुलाधिपम् ।।९७।।
गुणान्स्मरन्वराङ्गस्य, प्रयाणैरविलम्बितैः । स्मयं चलत्पताकाभिः, स ययौ निजपत्तनम् ।।९८।।
पुरासुकृत-सामर्थ्य-परीतात्म-पराक्रमात् । ततो जिता वराङ्गेन, सागरान्ता वसुन्धरा ।।९९।।
उपरकार-गुणोत्पन्नं, परमानन्द-मुद्वहन् । विदर्भस्य ददौ राज्यं, राजा सागरवृद्धये ।।१००।।
धीधनाय धनाख्याय, धनधान्यसमाकुला (लं) । अब्धिवृध्यग्रपुत्राय, वितीर्य तेन कोशला (लं) ।।१०१।।
समुद्रवृद्धिपुत्रायादात्कलिङ्गं कनीयसे । देशं वसूक्तये राजा, मत्त-मातङ्ग सङ्कुलम् ।।१०२।।
अनन्तमन्त्रिणे देशं, पल्लवाख्यं दिदेश सः । वाराणसीपुरं चित्रसेनाय सुधिये ददौ ।।१०३।।
अजिताय विशालाह्वा, पुरी दत्वा महीभुजा । स्थापितो देवसेनाह्वो, मन्त्री मालवमण्डले ।।१०४।।

के लिए कौन समर्थ हैं, अर्थात् कोई नहीं ।।९२।। फिर एक दिन कुलाधिप ने अपने देश को लौटने की इच्छा रखते हुए मीठे शब्दोंके द्वारा वरांग राजा से भक्तिपूर्वक कहा ।।९३।। हे राजन्! आज से आरम्भ कर तुम्हारी कृपा से सफल हुआ हूँ तुम्हारे दामादपने को प्राप्त होने पर मैं बड़े लोगोंसे भी मान्य हुआ हूँ ।।९४।। सौभाग्य रूप मुख्य गुण की स्थान मेरी यह मनोहरा नामक पुत्री तुम्हारे साथ विवाह करने से पृथ्वी तल पर धन्य हो गई ।।९५।। इसलिये हे राजन्! तुम्हारी आज्ञा से मैं अभीष्ट कार्य को समाप्त करने वाला हूँ। मैं अपने देश को जाना चाहता हूँ, मुझ वशवर्ती के लिए छोड़िए ।।९६।। तदनन्तर राजा ने अनेक वस्त्राभूषणों से उस कुलाधिप को सम्मानित कर मृदु वचनों से सन्तोषित कर विदा कर लिया ।।९७।। वह कुलाधिप वरांग के गुणों का स्मरण करता हुआ शीघ्र प्रस्थान के द्वारा सुन्दर हिलती हुई पताकाओं वाले अपने नगर को प्राप्त हुआ ।।९८।। उसके बाद पूर्वकृत पुण्य की सामर्थ्य से भरे हुए और अपने पराक्रम से वरांग राजा ने सागरान्त पृथ्वी को जीता ।।९९।। उपकार गुण से उत्पन्न परमानंद को धारण करते हुए राजा वरांग ने सागरवृद्धि सेठ के लिए, विदर्भ देश के राज्य को दिया ।।१००।। बुद्धि रूपी धन वाले धन नामक सागरवृद्धि सेठ के बड़े पुत्र के लिए उस वरांग ने धन धान्य से परिपूर्ण कौशला/अयोध्या को देश दिया ।।१०१।। राजा वरांग ने सागरवृद्धि सेठ के वसु कहे जाने वाले छोटे पुत्र के लिए कलिंग देश को दिया, जो मत्त हाथियोंसे व्याप्त था ।।१०२।। उस वरांग राजा ने अनंत मंत्री के लिए पल्लव नामक देश को दिया। बुद्धिमान चित्रसेन के लिये वाराणसी नगर को दिया ।।१०३।। राजा वरांग ने अजित मंत्री के लिए विशाला/उज्जयिनी नाम की नगरी को देकर देवसेन नामक मंत्री को मालव देश मेंस्थापित किया ।।१०४।। स्वर्ण और पृथ्वी के दान से अपने प्रियजनों को सन्तुष्ट कर, स्वयं राजा वरांग ने आनर्तपुर में चिरकाल

काञ्चनावनि-दानेन, प्रतर्प्येष्ट-जनान्निजान् । राजा राज्यं चिरं चक्रे, स्वय-मानर्त-पत्तने ।।१०५।।

प्रतापेन धैर्यण कीर्त्या महत्या स्वसौभाग्यभोग्यैः प्रजापालनैश्च ।
महामङ्गलैर्गीतनृत्यप्रभेदैः सुशास्त्रै-रनेकैः कला-कौतुकैश्च ।।१०६।।
सदा सत्कलालाप-पीयूषवर्षैः, सुविज्ञानविज्ञानचरित्रभावैः ।
परा-माप-वृद्धिं विवेकी वराङ्गोऽवनीशोऽनिशं तत्र चानर्तु-पुर्यां ।।१०७।।

एकादशः सर्गः

श्रीपरवादिदन्तिपञ्चाननश्रीवर्द्धमानदेवभट्टारकविरचिते वराङ्ग चरित्रे वराङ्गस्य आनर्तपुरनिवेशो नाम एकादशः सर्गः ।

तक राज्य किया ।।१०५।। प्रताप से धैर्य से महान कीर्ति से, अपने सौभाग्यमय भोगों से, प्रजा पालन से महामंगलों से गीत नृत्य के प्रभेदों से, सुशास्त्रों से और अनेक कला चमत्कारों से तथा सदा सत् कलाओं के आलाप रूपी अमृत की वर्षा से सुंदर, विवेकमय सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान, भेदविज्ञान/बहुकला विज्ञता/विशिष्टज्ञान/आत्मिकज्ञान, चारित्र व्रतात्मक भावों से विवेकी वरांग राजा वहाँ आनर्तपुर में निरन्तर परम वृद्धि को प्राप्त था ।।१०६-१०७।।

इस प्रकार परवादी रूपी हाथी के लिए सिंह स्वरूप श्री वर्धमान देव भट्टारक विरचित वरांग चरित्र में वरांग का आनर्तपुर में निवास नामक ग्यारहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

—00000—

द्वादशः सर्गः

आनर्तपुरे सकलावनि-वनिताया ललाट-तिलक-निभे। रामारम्ये रेमे मणिमय-सदने वराङ्गभूपालः ॥१॥
पर्वत-गुहासु तटिनीतीरेष्वाराम[1]कामभोगेषु। रमतेस्म चिरं राजा, सुरेन्द्र इव निज-पुरन्ध्रीभिः ॥२॥
स कदाचि-दनुपमाया, गत्वा पत्न्या गृहं तया दत्तम्। पीठ-मभूषय-दीशो, मणिकर्मविनिर्मितं हैमम् ॥३॥
तत्पादार्पित-नयना, मुकुलीकृत-चारुपाणिकमलयुगा। विनयानतोत्तमाङ्गी नरपति-पुरतः स्थिता राज्ञी ॥४॥

रूप-गुणशील-निलया-मति निर्मल-चरण-भूत-ललित तनुं।
सुकृतिक्रियातिनिपुणां स तामवादीत्प्रियां निपुणाम् ॥५॥
एह्येहि साध्वि निकटं, निषीद श्रृणु सत्कथां च कुरु धर्मं।
प्रतिपद्य तथेति विभोरुपविश्य पुरोवदत्साध्वी ॥६॥

नाथ कथय को धर्मः, केनोपायेन साध्यते सततम्। तस्य फलं किं वा मे, वदेति पृष्ठस्तयावदद्भूपः ॥७॥
सद्दृग्ज्ञान-चरित्राण्याहुर्जैनास्तपोधना धर्मम्। व्यवहार-निश्चयाभ्यां, तेषां भेदो द्विधा दृष्टः ॥८॥
जिनभाषित-तत्त्वेषु, श्रद्धानं दर्शनं वदन्ति बुधाः। निःसन्देहः सम्यग्बोधः सज्ज्ञान-माख्यातम् ॥९॥
सागाराणां कथयन्त्यणु-गुण-शिक्षाव्रतानि सुचरित्रम्। निशिभोजनाद्विरमणं, शोधितजलपानमपि मौनम् ॥१०॥

१. कायमाणेषु।

वह वरांग राजा आर्नतपुर में सम्पूर्ण पृथ्वी रूपी स्त्री के ललाट के तिलक के समान स्त्रियों से सुन्दर मणिमय महल में रमता था ॥१॥ राजा वरांग पर्वत की गुफाओं में सुन्दर नदियों के तटों में और बगीचों में क्रीड़ा करने पर स्त्रियों के साथ देवेन्द्र के समान चिरकाल तक रमण करता था ॥२॥ उस वरांग राजा ने किसी समय अनुपमा पत्नी के घर जाकर उसके द्वारा दिये हुए रत्नजड़ित सोने के सिंहासन को विभूषित किया अर्थात् आसन पर बैठ गया ॥३॥ उस राजा के पैरोंमें अर्पित किया है नेत्रों को जिसने, जोड़े हैं सुन्दर हाथ रूपी कमल युगल को जिसने विनय से झुके उत्तम अंगोंवाली रानी राजा के आगे स्थित थी ॥४॥ रूप, गुण और शील की निलय यानी स्थान, अति निर्मल पैरोंवाली, पवित्र सुन्दर शरीर वाली, पुण्य की क्रियायें करने में अत्यन्त कुशल उस पत्नि को वह वरांग बोला ॥५॥ हे साध्वी! यहाँ आओ पास मैं बैठों तथा समीचीन कथा को सुनो और धर्म को करो, इस प्रकार कहने पर वह सती साध्वी राजा के सामने बैठ कर इस प्रकार बोली ॥६॥ हे नाथ! कहिए धर्म क्या है किस उपाय से निरन्तर साधा जाता है अथवा उसका फल क्या है मुझे कहिए इस प्रकार उस रानी के द्वारा पूछने पर राजा बोला ॥७॥ तपोधन, जिनेन्द्र अरहंत भगवान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को धर्म कहते हैं, उसके व्यवहार और निश्चय से दो भेद देखे जाते हैं ॥८॥ विद्वान् लोग जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए जीवादि तत्त्वों में श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं, संदेह रहित समीचीन ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा गया है ॥९॥ गृहस्थों के अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों को, रात्रि भोजन त्याग, छना हुआ जल पीना, और सात स्थानों पर मौन को भी सम्यक्चारित्र कहते हैं ॥१०॥ छाछ से बाहर निकले मर्यादा से रहित नवनीत/मक्खन को नहीं

तक्राद्बहिर्नधार्यं नवनीतं कन्द-भक्षणं त्याज्यं । वन्हेर्दूरगतं खलु, न ग्राह्यं काञ्जिकं भव्यैः ॥११॥
त्याज्या तुम्बी पञ्चोदुम्बरबिल्वादि भूरुहफलानि । कुसुमान्यपि केतक्यादीनामिह महीरुहाणां च ॥१२॥
पञ्चम्यष्टम्यादौ प्रविधातव्यं तपस्तनोः शक्तया । दानं साधुजनेभ्योपि, प्रदातव्यं (प्रमोदेन) ॥१३॥
मणि-हेम-शैल-काष्ठैर्निर्माप्य जिनालयं महातुङ्गम् । तत्राष्टादशदोषैर्मुक्तो देवो जिनः स्थाप्यः ॥१४॥

निर्माप्य तत्प्रतिष्ठां, भक्तया धनधान्यसम्पदा परया।
मिलितेऽखिलजन-निकरे कुर्याद्धर्म-प्रभावना-मुच्चैः ॥१५॥
यः संस्नाप्य जिनेशं, विधिवत्पञ्चामृतैर्जिनं यजते।
जल - गन्धाक्षत - पुष्पैर्नैवेद्यैर्दीप - धूप - फल - निवहैः ॥१६॥
यो नित्यं जिनमर्चति स एव धन्यो निजेन हस्तेन।
ध्यायति मनसा शुचिना, स्तौति च जिह्वागतैः स्तोत्रैः ॥१७॥

विदितो धर्मोपायस्तेनायं सकल-धर्मतत्त्व-विदा। मनुजामर-मुनिनाथो, भूत्वा भुङ्क्ते स मोक्षसुखम् ॥१८॥
धर्मो धर्मोपायो, धर्मफलं कीर्तितं समासेन । विस्तरतो विज्ञेयं, विस्तरशास्त्रोपदेशेन ॥१९॥
श्रुत्वेवं सानुपमा, देवी धर्मस्य कारणं भूपात् । तमुवाच जातहर्षा, रत्नत्रयनिर्मलाभरणा ॥२०॥
नाथ मयाप्त भोगा, नाना भवतः प्रभावतः सततम् । अधुना जिनमतधर्मे, रमते चित्तं त्वदुक्तं मे ॥२१॥

खाना चाहिए, कंद का खाना छोड़ने योग्य है, अग्नि से दूर हुए अर्थात् कच्चे छाछ भव्यों के द्वारा नियम से ग्रहण करने योग्य नहींहैं ॥११॥ यहाँ पर तुम्बी, पंच उदम्बर फल बेल आदि वृक्षों के फल; केवड़ा, केतकी नीमादि वृक्षोंके फूल त्यागने योग्य हैं ॥१२॥ शरीर की शक्ति के अनुसार पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी आदि तिथियों में उपवास एकाशनादि तप को करना चाहिए, साधुजनों के लिए भी हर्ष पूर्वक दान देना चाहिये ॥१३॥ रत्न, सोना, पत्थर और लकड़ी के द्वारा बहुत ऊँचे जिनालय को बनवाकर, उसमेंअठारह दोषों से रहित जिनेन्द्र देव को स्थापित करना चाहिये ॥१४॥ फिर उसकी प्रतिष्ठा को करके उत्तम धर्म, धान्य सम्पत्ति और परम भक्ति से सभी जनोंके समूह के मिलने पर उत्कृष्ट धर्म की प्रभावना को करें ॥१५॥ जो जिनेन्द्र देव की विधिपूर्वक जल आदि पंचामृतों से अभिषेक करके जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलं के समूहों से जिनदेव को पूजते हैं ॥१६॥ जो सदा अपने हाथों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा-अर्चना करता है, जो पवित्र मन से जिनेन्द्र भगवान् का ध्यान करता है, और जिह्वा पर आये हुए स्त्रोतों से स्तुति करता है वही श्रावक धन्य है ॥१७॥ जिस सम्पूर्ण धर्म के स्वरूप को जानने वाले ने उस धर्म का उपाय/मोक्षमार्ग जान लिया है, वह चक्रवर्तीदेवेन्द्र तीर्थंकर, गणधर आदि होकर मोक्ष के सुख को भोगता है ॥१८॥ यह धर्म, धर्म का उपाय धर्म का फल संक्षेप से कहा है। विस्तार से शास्त्रों के उपदेश से जानना चाहिये ॥१९॥ वह अनुपमा रानी राजा से इस प्रकार धर्म के कारण को सुनकर राजा के वचन से उत्पन्न हुए हर्ष वाली रत्नत्रय के निर्मल अलंकारोंसे अलंकृत हो उन पतिदेव राजा वरांग से बोली ॥२०॥ हे राजन्! आपके प्रभाव से मैंने निरन्तर अनेक भोगों को प्राप्त किया। अब मेरा मन तुम्हारे

तस्मात्सिद्धायतनं काराप्यं भूपते त्वया पुर्यां । तत्रार्हतां प्रतिष्ठा महतीमिच्छामि निर्मातुम् ॥२२॥
पञ्चोपचारपूजां, कर्तुं वाञ्छाम्यहं च सहभव्यैः । मुनिभव्यगृहस्थेभ्यो, दातुं दानं यथायोग्यं ॥२३॥
इत्युक्त्वा विरतायां, तस्यां भूपो जगाद् सन्तोषात् । आशु तवेप्सित-मेतद्, भद्रे सम्पाद्यते मया पश्य ॥२४॥
उक्त्वेति नृपो गत्वा, स्वभाया-माह मन्त्रिणं विबुधं । पुर-मध्योन्नत-देशे, कारय शीघ्रं जिनागारम् ॥२५॥
स ततो भूपादेशा-दाहूयानल्प-शिल्प-शास्त्रज्ञान् । जिन-गृह-निर्माण-विधौ शशास शुद्धोर्वरादेशे ॥२६॥

जलवालुका शिलान्तं संशोध्य महीतलं च तैर्यत्नात् ।
वास्त्वाममोक्त-विधिना, जिनगेहं कर्तु-मारब्धम् ॥२७॥

अति-दीर्घ-विपुल-दृढतर, शिलाविशेषैर्विनिर्मितं गाढम् । जिनगेहाधिष्ठानं, शुभे मुहूर्ते चिरस्थायि ॥२८॥

स्फटिकशिला-घनघटितास्तत ऊर्ध्वं भित्तयो विरेजुस्ताः ।
वैडूर्यमणिस्तम्भाः समन्ततः शुशुभिरेऽतिशुभाः ॥२९॥
शिखरोपरि - शिखिमाला - कनकोत्तम - रत्ननिर्मितारेजुः ।
शिखरेष्वपि कनकमया, मणिरत्नविभूषिता बभुः कलशाः ॥३०॥

मणिदण्डाग्रविलग्रा, मन्दानिल-चालिताश्चतुर्दिक्षु । आरोपिताः पताकाः, मधुरस्वरकिङ्किणीरम्याः ॥३१॥

द्वारा कहे हुए जिनशासन मान्य धर्म में रमता है अर्थात् लगता है ॥२१॥ तुम्हारे द्वारा नगरी में सिद्धायतन निर्माण कराकर उसमें मैं अरहंतों की महान् प्रतिष्ठा को कराना चाहती हूँ ॥२२॥ मैं भव्यों के साथ पंचोपचार पूजा को करने के लिये मुनि और भव्य गृहस्थों के लिए यथा योग्य दान को देने की इच्छा करती हूँ ॥२३॥ इस प्रकार कह कर उस रानी के चुप होने पर राजा ने सन्तोष पूर्वक कहा - हे भद्रे! देखों मेरे द्वारा शीघ्र ही तुम्हारी यह इच्छा पूर्ण की जावेगी ॥२४॥ इस प्रकार कहकर राजा ने अपनी सभा में जाकर विबुध मंत्री से कहा कि नगर के मध्य, ऊँचे प्रदेश में जिनमन्दिर को शीघ्र बनवाओं ॥२५॥ उसके बाद मंत्री, राजा के आदेश से, शिल्प शास्त्र के ज्ञाता बहुत से शिल्पियोंको बुलाकर शुद्ध भूमि प्रदेश में जिन मन्दिर निर्माण की विधि के विषय मेंआदेश देता है ॥२६॥ उन शिल्पियों के द्वारा यत्नपूर्वक जल, बालुका शिलाओं तक पृथ्वीतल को शुद्ध करके, वास्तु शास्त्र में कही हुई विधि से जिनमन्दिर निर्माण करने का कार्य प्रारम्भ किया गया ॥२७॥ शुभ मुहूर्त में बहुत लम्बे, बड़े और मजबूत/सघन, विशेष शिलाओं के द्वारा चिरकाल तक रहने वाले जिनमंदिर की नींव को बनाया ॥२८॥ उस नींव के ऊपर स्फटिक शिला की सघनता से बनाई गई, बाँधी गई वे (ऊँची) दीवालें सुशोभित हो रहीं थीं अत्यन्त शुभ वैडूर्यमणि के खम्भे सब ओर से सुशोभित हो रहे थे ॥२९॥ स्वर्ण और उत्तम रत्नों से बनाई गई शिखरों के ऊपरशिखरों की चोटियों की पंक्तियाँ शोभित हो रही थी और उन शिखरों की चोटियों पर भी स्वर्णमयी मणिरत्नों से विभूषित कलश सुशोभित हो रहे थे ॥३०॥ मणि दण्डों के अग्रभाग में लगी हुई मंद वायु से चंचल चारों दिशाओं में पताका लगाई गई थी जो मधुर आवाज करने वाली छोटी घंटियों से सुन्दर थीं ॥३१॥ टाँकी से उकेरे गये चंद्र, सूर्य, नक्षत्र, मेघों व पक्षियों के अनेक रूपों से विचित्र चित्रों

टङ्कोत्कीर्ण-विहङ्गम-नानारूपैर्विचित्र-चित्रैश्च । तन्मण्डपो विशालो, बुधजन-चेतोहरो जातः ॥३२॥

अत्युन्नत - मणि - तोरण - गोपुर - वीथी विशाल - वेद्यश्च ।
मधुर-जल-पुष्करिण्यो विकसित-जलजालि-मण्डिता जाताः ॥३३॥
अत्युन्नतो विशालो, द्वार-चतुष्कान्वितः सुधा-धवलः ।
जिनसदनस्यास्य बहिः समन्ततोऽभून्महाशालः ॥३४॥
निरुपम-सिद्धायतनं, कूटसहस्रेण भूषितं वेगात् ।
कारित-मानर्तपुरे, नृपाज्ञया मन्त्रिणा तेन ॥३५॥
छत्रत्रय - भामण्डल, - दर्पण - भृङ्गार - चामरैः कलशैः ।
अब्दक - मौक्तिक - माला - द्यैरुपकरणै - रलङ्कृतं तच्च ॥३६॥
प्रतिबिम्बानि जिनाना -मिह -रत्न -शिला -मयानि विविधानि ।
संस्थापितानि दक्षैः, शुभ - लक्षण - लक्षितानि नरैः ॥३७॥

तत्रैत्य महीपालो, वराङ्गनामा विलोक्य जिनगेहं । आनन्दितो जिनस्य च, शशास सर्वान्प्रतिष्ठायै ॥३८॥

यत्यार्यिका-समूह,-श्रावक-सच्छ्राविकादिको लोकः । मिलितो जिनप्रतिष्ठा,-समये धर्मानुराग-मतिः ॥३९॥

विविधौषधि-सामग्र्या कुङ्कुम-कर्पूर-गन्ध-वस्त्राद्यैः ।
भूपति-रुदार-चित्तो, जिनयज्ञ-विधिं समारेभे ॥४०॥

प्रक्षालिता जलेन, प्रतिमाः प्राक्टङ्कदोष-संशुद्ध्यै॥ पश्चा-दाकार-शुद्ध्यादीनि च कर्माणि विहितानि ॥४१॥

के द्वारा उस मंदिर का फैला हुआ विशाल मण्डप विद्वानों के मन को हरण करने वाला हुआ था ॥३२॥ अत्यन्त ऊँचे रत्न तोरणों से युक्त, गोपुर की गलियाँ और विशाल वेदियाँ, मधुर जल से भरी वापियाँ फूले हुए कमलों की पंक्ति से मंडित/शोभित हो गयी थी ॥३३॥ इस जिनमन्दिर के बाहर सब ओर बहुत ऊँचे या विशाल चार दरवाजोंसे सहित, चूना से सफेद महाशाल/मुख्यकोट था ॥३४॥ राजा वरांग की आज्ञा से उस मंत्री ने आनर्तपुर में शीघ्र ही हजार शिखरों से विभूषित निरुपम सिद्धायतन का निर्माण कराया ॥३५॥ और वह मन्दिर तीन छत्र, भामण्डल, दर्पण, भृंगार, चामरों, कलशों, अब्दक/घट मोतियों की मालाओं आदि उपकरणों से अलंकृत/सौन्दर्ययुक्त था ॥३६॥ यहाँ मन्दिर में कुशल मनुष्यों के द्वारा शुभ लक्षणों से युक्त रत्न पाषाणमय अनेक प्रकार के जिनेन्द्रोंके प्रतिबिम्बों को स्थापित किया गया था ॥३७॥ वरांग नामक राजा ने वहाँ आकर जिन मन्दिर का अवलोकन कर आनन्दपूर्वक जिनेन्द्र की प्रतिष्ठा के लिये सभी को आदेश दिया ॥३८॥ धर्म में अनुराग बुद्धि वाले, मुनि वृन्द आर्यिका समूह, श्रावक, श्राविका लोग जिन प्रतिष्ठा के समय में सम्मिलित हुए ॥३९॥ अनेक प्रकार की औषधि साम्रगी से वा केशर, कुंकुम, कर्पूर, सुगन्ध (धूप) व वस्त्र आदि के द्वारा उदार मन वाले राजा वरांग ने जिनयज्ञविधि को प्रारम्भ किया ॥४०॥ पहले टंकदोष की शुद्धि के लिये जल से प्रतिमाओं का प्रक्षालन किया और बाद में आकार शुद्धि आदि क्रियाओं को किया ॥४१॥ शुभदिन, शुभलग्न, शुभमुहूर्त और शुभतिथि में कुशल आचार्यों द्वारा

शस्तदिने शुभलग्ने, सुमुहूर्त्ते सत्तिथौ च जिनबिम्बे। तिलकौषधैस्तु तिलकं, विन्यस्तं सूरिभिर्दक्षैः ॥४२॥
नयनोन्मीलन-मुच्चैर्विहितं विधिवद्विशारदाचार्यैः। सद्धर्म-विवृद्ध्यर्थं, जिनेन्द्र-सच्च-चन्द्र-प्रतिमायाः ॥४३॥

अष्टाधिक-दशशत-मित-कलशैः संस्नापितस्ततो देवः।
शांतिक - होम - विधानै,-रपि जिन - यजनं कृतं भव्यैः ॥४४॥
मधुर -कवि -गीत -नादैर्वाद्य -निनादैश्च नर्तकी -नृत्यैः।
कल्याणमय - मिहासी - दानर्तपुरं तदा सर्वं ॥४५॥
स्नात्वा ततः क्षितीशः, शुचि - वस्त्राभरणभूषितो देव्या।
तया सहान्याभिश्च, प्रपूजनं जिनविभोश्चक्रे ॥४६॥
जिनमुनि-निवहं नत्वा, श्रुत्वा धर्मं गुरोर्मुखाद्भूपः।
दीना-ननाथ-निवहान्, प्रतर्प्य तोषं परं प्राप ॥४७॥
जिन-यजन-जनित-सुकृतात्, कृतार्थता-माप सोपि सा राज्ञी।
परमार्हतो मतस्य, प्रभावना कारिता ताभ्यां ॥४८॥

एकान्तपक्षदक्षान्विद्यागर्वैकभूषणांश्चपलान्। नैयायिक-सौगत-मत-प्रभृति-महावादिनश्चण्डान् ॥४९॥

स्व-सभा-गतान्समस्तान्, जिनपति-मत-बाधकान् कदाचिदसौ।
स्याद्वाद-वाद-विद्या,-विकसित-हृदयो जिगाय भूपालः ॥५०॥

स निनाय दीर्घकालं, भुञ्जानो विषय-सौख्य-मभिलषितम्। तन्मूलभूत-धर्मं, कुर्वन्संसाधयन्नर्थं ॥५१॥

तिलकदान की औषधियों से जिनबिम्ब में तिलक को विशेष रूप से रखा अर्थात् तिलकदान किया ॥४२॥ समीचीन धर्म की वृद्धि के लिए जिनेन्द्र रूपी निर्मल चन्द्रमा की प्रतिमा का निपुण आचार्यों के द्वारा विधि पूर्वक नयनोन्मीलन रूप उत्कृष्ट क्रिया की गई ॥४३॥ उसके बाद भव्यों के द्वारा एक हजार आठ कलशों के द्वारा जिनेन्द्रदेव का अभिषेक किया गया; शान्ति, हवन, विधानों के द्वारा भी जिनेन्द्र भगवान की पूजा की गई ॥४४॥ उस समय यहाँ आनर्तपुर में कवियों के मधुर गीतों की आवाज में वाद्य यंत्रों की ध्वनि में और नर्तकियों के नृत्यों से पूरा नगर कल्याण उत्सव मय हो गया ॥४५॥ उसके बाद वरांग राजा ने स्नान कर पवित्र वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर अनुपमा वा अन्य रानियों के साथ जिनेन्द्र भगवान की उत्कृष्ट पूजा की ॥४६॥ राजा वरांग ने जिन मुनि समूह को नमस्कार कर, गुरु के मुख से धर्म को सुनकर, दीन अनाथ समूहों को सन्तुष्ट कर उत्कृष्ट सन्तोष को प्राप्त किया ॥४७॥ जिनेन्द्र भगवान की पूजा से उत्पन्न पुण्य से कृतकृत्यता को प्राप्त वह वरांग राजा और वह रानी अनुपमा उन दोनोंके द्वारा जैनधर्म की उत्कृष्ट प्रभावना कराई गई ॥४८॥ कभी यह वरांग राजा अपनी सभा में आए हुए सभी जिनेन्द्र मत के बाधक नैयायिक सुगत मत आदि के प्रचण्ड महावादियोंको स्यादवाद विद्या से विकसित हृदय वाले राजा ने जीत लिया था ॥४९-५०॥ उस वरांग राजा ने इच्छित विषय सुख को भोगते हुए उस विषय सुख के मूलभूत धर्म को करते हुए और अर्थ पुरुषार्थ को करते हुए लम्बे समय को बिता दिया ॥५१॥ अनुपमा रानी ने

बालरविकान्तदेहं, सल्लक्षण-लक्षिताङ्घ्रि-करयुगलम्। शुभदिन-मुहूर्तलग्नेऽनुपमादेवी सुतं सुषुवे ।।५२।।
भोजकुल-कमलभानुं, सकल-जनानन्दकन्द-प्रथमसुतं। नाम्ना सुगात्रमेनं, चकार राजा वरांगोऽयं ।।५३।।

सकल-कलागम-कुशलो, ललना-लोचन-विलोकनीय-मसौ।
नवयौवनं च लब्ध्वा, नृपकन्या श्चोपमेये सः ।।५४।।
सुगोत्रं सुगात्रं चरित्रं पवित्रं, सुविद्यां सुशीलं विभूतिं प्रभूतां।
स्त्रियो रूपसौभाग्यलावण्यवासा, लभन्ते नराः पूर्वपुण्यप्रभावात् ।।५५।।
विच्छिन्न-भोगांश्चिरं येऽत्र, भुक्त्वा, सदा सादरं सेव्यमानाजनौघैः।
पुनर्लब्धबोधा भवारण्यवासे, प्रत्यान्त्याशु वैराग्यमेते धन्याः ।।५६।।

श्रीपरवादिदन्तिपञ्चाननश्रीवर्द्धमानदेवभट्टारकविरचिते वराङ्गचरित्रे सिद्धायतननिर्माणजिनप्रतिष्ठाप्रतिपादको नाम द्वादशः सर्गः ।।

बाल सूर्य के समान सुन्दर शरीर वाले, अच्छे लक्षणों से युक्त युगल हाथ और पैर वाले, पुत्र को शुभ दिन, शुभ मुहूर्त वा शुभ लग्न में उत्पन्न किया ।।५२।। राजा वरांग का यह प्रथम पुत्र भोजवंश रूपी कमल को विकसित करने के लिए सूर्य के समान सभी जनों के आनंद का कारण था। इस राजा वरांग ने इसका नाम सुगात्र रखा ।।५३।। यह राजपुत्र सभी कलाओं व शास्त्रों में निपुण, स्त्रियों के नेत्रों द्वारा देखने योग्य था तथा नव यौवन को प्राप्त कर उसने राज कन्याओं को विवाहा ।।५४।। पूर्व पुण्य के प्रभाव से मनुष्य उत्तम गोत्र, सुन्दर शरीर, सदाचार, पवित्रता, शुचिता, उत्तम विद्या, उत्तम शील, उत्तम विपुल सम्पत्ति तथा रूप, सौभाग्य व लावण्य वाली स्त्रियोंको प्राप्त करते हैं ।।५५।। यहाँ पर जो सदा आदरपूर्वक मनुष्यों के द्वारा सेवन किये जाने वाले निरन्तर भोगों को चिरकाल तक भोगकर फिर संसार रूपी समुद्र से ज्ञान को प्राप्त कर वैराग्य को प्राप्त होते हैं, वे धन्य हैं ।।५६।।

इस प्रकार श्री परवादी रूपी हाथी के लिए सिंह के समान श्री वर्धमान भट्टारक देव विरचित वरांग चरित्र में सिद्धायतन निर्माण जिन प्रतिष्ठा प्रतिपादक नामक बारहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

—00000—

त्रयोदशः सर्गः

अथैक-दासौ नृपतिर्वराङ्गो, निद्राक्षये ब्राह्म-मुहूर्त-काले।
विवर्ण-भावं प्रति- गाहमानं, तैलात्यये दीप-मपश्यदुच्चैः ॥१॥
विनाश-मायान्त-ममुं विलोक्य, तैलात्यये चारु विचार-मित्थम्।
चकार संसारविकारदुःखं, सुखायते मन्दधियां जनानां ॥२॥
प्रकाश्य देशं प्रभया स्वयोग्यं, समूल-मुन्मूल्य तमोरिपुं च।
तैलक्षये नाशमुपैति दीपस्तथायुषो हानि-मवाप्य जीवः ॥३॥
वियोगवंतो भवभोगयोगा, नायुः स्थिरं नो नव-यौवनं च।
राज्यं महाक्लेश-सहस्रसाध्यं ततो न नित्यं भुवि किञ्चिदस्ति ॥४॥
लक्ष्मी-रियं वारि-तरङ्ग-लोला, क्षणे-क्षणे नाश-मुपैति चायुः।
तारुण्य-मेतत्सरिदम्बु-पूरोपमं नृणां कोऽत्र सुखाभिलाषः ॥५॥
जीवोऽथ दीर्घायु-रवाप्य नित्यं, सुभोग-भूमावमरालये च।
भुक्त्वा स्वनारीभि-रनेक-भोगांस्तृप्तिं गतो नात्र कि-मल्पकैस्तैः ॥६॥
स एव जीवो नरकं च गत्वा, निरन्तरं तत्र विचित्र-दुःखं।
भुक्त्वागतस्यात्र परम्परायाः, परं कि-मर्हन्मत-पुण्यहीनः ॥७॥

तथा एक समय राजा वरांग ने ब्रह्ममुहुर्त्त के समय सुबह नींद पूरी हो जाने पर तेल की कमी के कारण बहुत मंद हुए दीपक को देखो ॥१॥ तेल के क्षय होने पर इस विनष्ट होते हुये दीपक को देखकर वरांग ने इस प्रकार सुन्दर विचार किया कि मंद बुद्धि वाले लोगोंको संसार के विकारमय दुःख ही, सुख के समान आचरण करते हैं अर्थात् इन्द्रियजन्य दुख ही सुखमय प्रतीत होते हैं ॥२॥ अपनी प्रभा से योग्य देश को प्रकाशित कर और अंधकार रूपी शत्रु को मूल से नष्ट करने वाला, तेल के क्षय होने पर दीपक विनाश को प्राप्त होता है उसी तरह यह जीव भी आयु कर्म के नष्ट होने पर विनाश को प्राप्त होता है ॥३॥ संसार के भोगों का संयोग; वियोग से सहित है। आयु और नवीन यौवन स्थिर नहीं है। राज्य हजारों महा क्लेशों से सिद्ध होता है इसलिए पृथ्वी पर कुछ भी नित्य नहीं है ॥४॥ यह लक्ष्मी पानी की तरंगों के समान चंचल है और आयु क्षण-क्षण में नाश को प्राप्त होती है। यह जवानी; नदी के जल के पूर/प्रवाह के समान है, यहाँ इस विषय में मनुष्यों की सुख की क्या अभिलाषा है? ॥५॥ इस जीव ने सुभोगभूमि और स्वर्ग में बहुत लम्बा जीवन प्राप्त कर, वहाँ सदा अपनी स्त्रियों के साथ बहुत सुख भोगा, वह वहाँ तृप्त नहीं हुआ, तो वह यहाँ उन थोड़े से भोगों से कैसे तृप्त/सन्तुष्ट हो सकता है ॥६॥ वही उत्कृष्ट अर्हत् मत अर्थात् जैनधर्म से रहित, पुण्य से हीन, दीन प्राणी परंपरा से नरक में जाकर और वहाँ निरन्तर विभिन्न प्रकार के दुःखों को भोगकर आये हुए इस जीव के क्या परमतृप्ति है अर्थात् नहीं है। यहाँ पर जैसे नदियों के जल के प्रवाहों से भरा जाने वाला समुद्र भी भरता नहीं हैं वैसे ही यह प्राणी कभी भी

तृप्तिं च संसारसुखैः कदाचित्, स्त्री-मित्र-पुत्राम्बर-भूषणाद्यैः।
न याति देही सरि-दम्बुपूरैः, प्रपूर्यमाणोऽपि यथा समुद्रः ॥०८॥युगलं॥
अवार्य-वीर्या भुवनत्रयेऽस्मिन्महर्द्धिमन्तो विपुलायुषश्च।
नरोत्तमा देवनरेश्वरायाः, कालेन के के कवलीकृता न॥०९॥
भोगान्तरायात्खलु जन्मनीह, हृतेन दूरं तुरगेण गेहात्।
मयैव देशान्तर-माप्य दुःखं, किं वा न भुक्तं विविध-प्रकारम्॥१०॥
अलं ततः संसृति-भोगसौख्यै-रत्यन्त-विघ्नौघ-विष-प्रयोगैः।
आदाय दीक्षामधुना करिष्ये, जैनेश्वरीं कर्मविनाशमाशु॥११॥
असार-संसार-सुखाभिलाषो, विमुक्तरागो वरलब्ध-बोधः।
चित्ते विचिन्त्यैव-मसौ विनिद्रस्, तत्याज राजा तलिनं तदानीं॥१२॥
प्रभात-सन्ध्या-विधि-मेष सम्यग्विधाय पुत्रेण समं च गत्वा।
श्री धर्मसेनस्य सभां प्रणम्य, पादौ पितुस्तस्य पुरो निषण्णः॥१३॥
स्थित्वा क्षणं राजकथावसाने, विन्यस्य मौलौ कर-कञ्ज-युग्मं।
सम्प्राप्य सम्यक्समयं वराङ्गः, स्वाभीष्ट-सिद्ध्यै नृप-मित्युवाच॥१४॥
आबाल-कालात्तव पादपद्म,-प्रसादतो नाथ! महाविभूतिं।
लब्ध्वा मया वाञ्छितभोगसौख्यं, सर्वर्तु-कालोचित-माप्त-मत्र॥१५॥

स्त्री, मित्र, पुत्र, वस्त्र आभूषण आदि संसार के सुखों से तृप्ति को प्राप्त नहीं होता है॥७-८॥ इन तीनों लोकों में यहाँ अपार शक्ति वाले महान् सम्पत्तिशाली, लम्बी आयु वाले, पुरुषोत्तम देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि कौन-कौन काल के द्वारा नहीं खाये गये अर्थात् सभी को काल ने खाया है॥९॥ तथा इसी जन्म में मेरे द्वारा भोगान्तराय कर्म के उदय से घर से घोड़े के द्वारा दूर हरे जाने से देशान्तर को प्राप्तकर, विविध प्रकार के कौन-२ से दुख क्या नहीं भोगे गये?॥१०॥ अन्त रहित भारी विघ्नों के समूह रूप विष के प्रयोगों वाले संसार के भोगोंके सुखों से दूर हो इस समय मैं जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कही हुई निर्ग्रन्थ दीक्षा को ग्रहण कर शीघ्र कर्मों को नष्ट करूँगा॥११॥ १२. असार संसार के सुखों की इच्छा से रहित, राग से विमुक्त, उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त निद्रा रहित यह राजा मन में इस प्रकार विचार कर उसी समय विशाल शय्या को छोड़ देता है॥१२॥ यह वरांग राजा सुबह की संध्या विधि को अच्छी तरह करके पुत्र के साथ श्री धर्मसेन राजा की सभा में जाकर उन पिता के पैरों को प्रणाम कर उनके सामने बैठ गया॥१३॥ राजकथा के समाप्त होने पर क्षण भर ठहरकर हस्त कमल युगल को मुकुट पर रखकर अच्छे समय को प्राप्त कर वरांग ने अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिये राजा को इस प्रकार कहा॥१४॥ हे नाथ! बाल्यकाल से लेकर अब तक आपके चरण कमलोंके प्रसाद से मैंने महाविभूति को प्राप्त कर यहाँ पर सब ऋतु काल के योग्य इच्छित भोग सुखों को प्राप्त किया है॥१५॥ जो सांसारिक सुख; पुण्यहीन पुरुषों

यद् दुर्लभं पुण्य-विहीन-पुंसां, यद्वल्लभं सर्व-नरामराणां।
विना प्रयत्नं तव पादभक्तिः, शक्त्या च मे सिद्धि-मुपागतं तत्॥१६॥
भवत्प्रसादा-दिह वाञ्छितार्थाः कामाः प्रकामं मम सिद्धि-मीयुः।
सद्धर्म-मार्गाचरणं च चारुख्यातिं गतोऽहं भुवने सदैव॥१७॥
वाञ्छामि राजेन्द्र! जिनेन्द्र-मुद्रां, धर्तुं परित्यज्य परिग्रहं त्वम्।
कुरु प्रसादं मयि चेद्दयालुर्मनोरथं पूरय मे मनोज्ञम्॥१८॥
श्रुत्वा वराङ्गस्य वचो वराङ्गं, श्रीधर्मसेनो वदति स्म मोहात्।
किमेतदुक्तं भवता वराङ्ग!, मन्मानसक्लेशकरं तनूज!॥१९॥
तपोवनं पुत्र! गते त्वयीदं, राज्यं त्वदायत्तमुपैति नाशम्।
अहं तवैषा जननी च पत्न्यः, स्थातुं क्षमाः किं सह बन्धुलोकैः॥२०॥
त्राता प्रजानां स्वजनस्य शास्ता, जेता रिपूणां च कुलस्य कर्ता।
दातार्थिनां दीनजनस्य गोप्त, धर्त्ता धरायाः कुनयस्य भेत्ता॥२१॥
कलङ्क-मुक्तोऽमल-वृत्त-वृत्तिः, कला-निवासः कलितोत्त-माशः।
संरक्षितुं सर्वजनं क्षमस्त्वं, गृहे वसन्नेव विधेहि धर्मं॥२२॥युग्म॥
त्वं देहि दानं च तपः स्वशक्त्या, विधेहि शीलं परिरक्ष युक्त्या।
जिनेन्द्रपूजां कुरु वत्स! भक्त्या, सद्धर्ममन्त्रं पठ निर्मलोक्त्या॥२३॥

के लिए दुर्लभ हैं, जो सभी मनुष्यों और देवों के लिए प्रिय हैं बिना प्रयत्न के तुम्हारे चरणों की भक्ति और शक्ति से वह सब सांसारिक सुख मुझे सिद्धि को प्राप्त हुआ है ॥१६॥ यहाँ पर मुझे आपके प्रसाद से इच्छित पदार्थ काम-भोग प्रकृष्ट सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, सदा ही समीचीन धर्म मार्ग में आचरण को और संसार में सुन्दर ख्याति को प्राप्त हुआ हूँ॥१७॥ हे राजेन्द्र! मैं परिग्रह को छोड़कर जिनेन्द्र मुद्रा को धारण करना चाहता हूँ यदि आप दयालु हो तो मेरे ऊपर कृपा करो, मेरे सुन्दर मनोरथ को पूर्ण करो ॥१८॥ वरांग के वचन को सुनकर, मोह से श्री धर्मसेन ने वरांग को कहा—हे पुत्र वरांग! तुम्हारे द्वारा मेरे मन को क्लेश करने वाला यह क्या कहा गया ॥१९॥ हे पुत्र! तुम्हारे तपोवन को जाने पर तुम्हारे अधीन यह राज्य नष्ट हो जायेगा। मैं; यह तुम्हारी माता और पत्नियाँ, बन्धु लोगों के साथ ठहरने के लिए कैसे समर्थ होंगे ॥२०॥ तुम प्रजाओं के रक्षक, सुजनों के शिक्षक, शत्रुओं को जीतने वाले, कुल के करने वाले, याचकों को देने वाले, दीन जनों के रक्षक, पृथ्वी के धारण करने वाले, कलाओं के घर, उत्तम आशाधर, अनीति के नाशक, अकलंक, निर्दोष आचार प्रवृत्ति वाले, तुम सभी जनों की रक्षा करने में समर्थ हो, तुम घर में रहते हुए ही धर्म को करो ॥२१-२२॥ हे वत्स! तुम दान देओ, अपनी शक्ति से तप करो। युक्ति से शील की सब तरफ से रक्षा करो, भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान की पूजा करो। निर्मल वाणी से समीचीन धर्म (जैन धर्म) के मंत्र णमोकार मंत्र को पढ़ो ॥२३॥ गृहस्थ धर्म की सहायता को प्राप्त कर

लब्ध्वा सहायं गृहधर्ममेते, तीव्रं वितन्वन्ति तपोऽनगाराः।
ततोऽष्टकर्माणि निहत्य मोक्षं, व्रजन्ति यत्राक्षय-सौख्यलाभः ॥२४॥
ततो भज त्वं गृहिधर्ममेव, वपुर्न योग्यं तपसो न कालः।
गते तु काले कियति त्वया तत्तपो विधेयं यमिनां शिवाय ॥२५॥
ऊचे वराङ्गो भ्रमता भवाब्धिं, जीवेन दुःखं न सुखं किमाप्तम्।
जाताः कियन्तो जनका न के के, काः का जनन्यो न च बांधवाः के ॥२६॥
कुलेषु केषूत्तम-मध्यमेषु, जातो मृतो नो बहुवार-मेषः।
कदा कदा किं न कृतं न भुक्तं, जीवेन वा मोह-मलीसेन ॥२७॥
कः कस्य पुत्रो न पिता न माता, शत्रुर्न मित्रं न हितश्च येन।
प्राप्नोति संसारवनं प्रविष्टः, पर्याय-नामानि बहूनि जीवः ॥२८॥
बालो युवासौ स्थविरो नरेशो, देवो नरश्चाल्प-महर्द्धिशाली।
भवे-दनेकत्व-मुपैति चैको, यावच्छिवं याति न कर्ममुक्तः ॥२९॥
ततो न यावद्विकलत्व-मायान्त्यक्षाणि सर्वाणि न कम्प-मेति।
देहो न यावज्जरसा-गृहीतस्तावत्तपस्युद्यम ईश! कार्यः ॥३०॥
दृढव्रतं तं तपसि क्षितीशो, मत्वोत्तरं नैव शशाक वक्तुं।
तूष्णीं स्थितस्य स्वपितुर्विदित्वा, मनो वराङ्गः पुनरित्युवाच ॥३१॥

ये मुनि जन तीव्र तपश्चरण करने में समर्थ होते हैं, उसके बाद आठ कर्मों को नाश कर मोक्ष को जाते हैं, जहाँ पर अक्षय सुखों का लाभ होता है ॥२४॥ इसीलिए तुम गृहस्थ धर्म को ही पालो, तुम्हारा शरीर और काल तप के योग्य नहीं है कुछ काल निकल जाने पर वह तप तुम्हारे द्वारा करने योग्य है, जो कि मुनियों को मोक्ष प्राप्ति के लिए है ॥२५॥ वरांग ने कहा - संसार रूपी समुद्र में भ्रमण करते हुए क्या सुख, क्या दुख प्राप्त नहींहुआ। इस जीव के कितने और कौन-कौन पिता, माता और बन्धुजन नहींहुए ॥२६॥ यह जीव किन उत्तम मध्यम कुलोंमें बहुत बार नहीं जन्मा और नहीं मरा है अथवा मोह से मलिन जीव के द्वारा कब-कब क्या नहीं किया गया और क्या नहीं भोगा गया ॥२७॥ किसका कौन पुत्र है, न कोई किसी का पिता, न माता, न शत्रु, न हितकारी और न मित्र है जिस कुटुम्बादि के मोह से यह जीव संसार रूपी वन में प्रविष्ट हुआ, बहुत पर्यायों में अनेक नामों को प्राप्त करता है ॥२८॥ जब तक यह जीव कर्म से मुक्त हो मोक्ष को प्राप्त नहीं करता तब तक अकेला ही बाल, युवा, वृद्ध, राजा, देव और थोड़ी सम्पत्ति वाला व वैभवशाली अनेक पने को प्राप्त होता है ॥२९॥ इसलिए हे राजन्! जब तक सभी इन्द्रियाँ असमर्थता और कंपपने को प्राप्त नहीं होतीं और शरीर वृद्धता के द्वारा ग्रसित नहीं होता तब तक तप में उद्यम करना चाहिए ॥३०॥ राजा वरांग को तप में दृढ़व्रती मान कर उत्तर कहने के लिए समर्थ नहीं हुए अपने पिताजी को मौन स्थित देखकर तथा पिता के अभिप्राय को जानकर वरांग ने फिर इस प्रकार कहा—

अयं विनीतस्तव देव! पुत्रः, प्रपालनीयो भवता सुगात्रः।
क्षमां कुरुत्वं मयि चापि सर्वे, क्षमन्तु भूपाः सचिवाश्च लोकाः ।।३२।।
इतीरयित्वा विरते वराङ्गे तस्याग्रतस्तत्क्षण-मेव दक्षः।
सभा-समक्षं नृपधर्मसेनो ददौ सुगात्राय वराङ्ग-राज्यं ।।३३।।
आपृच्छ्य सम्भाष्य विचार्य सर्वानाश्वास्य बन्धूञ्जननीं च भार्याः।
विमोच्य मोहं सुहृदां च तेभ्योऽप्यात्मान-मासीद्विगतस्पृहोऽसौ ।।३४।।
मित्राण्यसौ सागरवृद्धिनामा-दीनि प्रबोध्यात्मनि जातहर्षः।
विमुक्त-मोहः स्वहिताय शीघ्रं, वराङ्ग-राडुद्यम-माततान ।।३५।।
विभूषणैर्हार-तिरीट-मुख्यैर्वस्त्रैर्विचित्रैः परिभूषिताङ्गः।
आरुह्य हेम्नः शिबिकामनर्घ्यां, दुग्धाब्धि-फेनोज्ज्वल-चामरोघैः ।।३६।।
संवीज्यमानो वर-वाहनस्थैर्नृप-प्रजा-मात्य-जनै-रशैषैः।
संसेव्यमानः पथि बन्दिवृन्दैः, संश्रूयमाणः स्फुट-वाग्विलासैः ।।३७।।
सङ्गीत-वाद्यध्वनि-पूरिताशः, श्वेतात-पत्रध्वज-लब्धशोभः।
महाविभूत्या वन-माप यस्मिन्, स्थितो गणेशो वरदत्तनामा ।।३८।।
वराङ्ग-पत्न्यो वर-वाहनस्थाः, केयूर-हाराङ्गद-भूषिताङ्गाः।
देहद्युतिद्योतित-दिग्विभागा ययुर्वनं ताश्च विमुक्त-मोहाः ।।३९।।

।।३१।। हे देव! आपका यह विनयवान पुत्र सुगात्र है, आपके द्वारा पालन करने योग्य है, मेरे ऊपर आप क्षमा करें और भी सभी राजा और मंत्री लोग मुझे क्षमा करें ।।३२।। इस प्रकार कहकर वरांग के रुक जाने पर उसके आगे उसी समय ही कुशल धर्मसेन राजा ने सभा के सामने सुगात्र के लिए वरांग का राज्य दे दिया ।।३३।। यह वरांग सभी बन्धुओं, माता और पत्नियों को पूछकर सम्भाषण कर आश्वासन देकर अपने आप को विचार कर और मोह को छुड़ाकर इच्छा से रहित हुआ ।।३४।। यह वरांग राजा सागरवृद्धि आदि मित्रों को समझा कर आत्मा में हर्ष को प्राप्त, मोह से रहित होते हुए अपने आत्महित के लिए उद्यम को बढ़ाने लगा ।।३५।। हार, मुकुट आदि मुख्य आभूषणों से, अनेक प्रकार के वस्त्रोंसे, सब ओर से सजे हुए शरीर वाले, सोने की अमूल्य पालकी पर सवार हो, क्षीरसागर के फेन के समान उज्ज्वल चामरों के समूह से अच्छी तरह वीज्यमान/ढोरे गये श्रेष्ठ वाहनों पर स्थित सभी राजा, प्रजा और मंत्री जनों से अच्छी तरह सेवित होते हुए मार्ग में बंदिजनों के स्पष्ट वचन विलासों से, स्तुति पद्यों से सुने जाते हुए संगीत और वाद्यों की आवाज से भरी हुई दिशा वाले और सफेद छत्र और ध्वज से प्राप्त शोभा वाले वरांग राजा, जिसमें भगवान नेमीनाथ के वरदत्त नामक गणधर स्थित हैं ऐसे वन को महाविभूति के साथ प्राप्त हुए ।।३६-३८।। श्रेष्ठ वाहनों पर स्थित केयूर, हार, बाजूबंद से विभूषित शरीर वाली और शरीर की कांति से प्रकाशित किया है, दिशाओं के विभाग को जिन्होंने ऐसी मोह से रहित वरांग की

आराद्गणेशं प्रविलोक्य नेमिर्जिनस्य मुख्यं वरदत्तसंज्ञं।
समं क्षितीशैः शिबिका-मपास्य, चचाल चोर्व्यां चरणद्वयेन।।४०।।
प्रदक्षिणीकृत्य नृपो मुनीन्द्रं, प्रणम्य तस्याङ्घ्रियुगं च भक्तया।
ततिं यतीनामवदात-लेश्यः, स्थित्वा पुरस्तस्य वचो बभाषे।।४१।।
अत्यन्त-भीमे भवसागरेऽस्मिन्, पतन्ति जीवा मुहुरूत्पतन्ति।
मुनीश! मिथ्वात्वमतिं प्रपन्ना दुरन्तदुःखानि समाप्नुवन्ति।।४२।।
मनोगुहान्तर्गत - मान - माया - लोभस्फुरत्क्रोध - महान्धकारं।
तवोपदेशामल-दीप-सङ्गाद्, भव्यात्मनां नाशमुपैति सद्यः।।४३।।
अनादि-संसारवने वसन्तः, सन्तः समायान्ति तदन्त-मन्ते।
त्वदीय-पूर्वापर-दोष-मुक्त-शास्त्रोक्त-तत्त्वार्थदृढावलम्बाः।।४४।।
हितस्त्वदुक्तागम-मार्ग एतत्तपस्त्व-दुक्तं फलतीष्ट-सिद्धिं।
यतस्ततोऽहं तव जातरूपं, वाञ्छामि धर्तुं स्वहिताय देव!।।४५।।
जगौ गणी भूमिप! साधु साधु त्वयोद्यमो यो विहितः शिवाय।
स्वस्येतरेषा-मपि निश्चयेन, निःशेष-कर्मक्षय-लाभहेतुः।।४६।।
विना न दीक्षां सकलं चरित्रं, विना चरित्रं न हि कर्मनाशः।

पत्नियों ने वन में प्रवेश किया।।३९।। नेमि जिनेन्द्र के वरदत्त नामक मुख्य गणधर को दूर से ही देखकर राजाओं के साथ वरांग राजा पालकी को छोड़कर दोनों पैरों से पृथ्वी पर चले।।४०।। राजा वरांग ने गणधर मुनीद्र की प्रदक्षिणा कर और उनके चरण युगल को भक्ति से प्रणाम कर, अन्य मुनियों की पंक्ति को नमस्कार कर फिर निर्मल लेश्या वाले वरांग ने उन मुनिराज के सामने स्थित होकर वचन कहे।।४१।। हे गणपति मुनीश! मिथ्यात्व बुद्धि को प्राप्त हुए जीव इस अत्यन्त भयंकर संसार सागर में बार-बार गिरते हैं और ऊपर उठते हैं तथा तीव्र दुःखों को प्राप्त करते हैं, भोगते हैं।।४२।। भव्यात्माओं के मन रूपी गुफा के भीतर मान, माया, लोभ और फैलते हुए क्रोध रूपी महा अन्धकार आपके उपदेश रूपी निर्मल दीपक की संगति से शीघ्र नाश को प्राप्त होता है।।४३।। अनादि संसार रूपी वन में रहते हुए आपके पूर्वापर दोष से रहित शास्त्र में कहे हुए तत्त्वार्थ के दृढ़ आलम्बन वाले सत्पुरुष इस संसार के अन्त को प्राप्त होते हैं।।४४।। हे गणनायक देव! क्योंकि आपके द्वारा कहा गया यह हितकारी आगम मार्ग और आपके द्वारा कहा गया यह तप इष्ट सिद्ध को फलता है, इसलिए मैं अपने हित के लिए आपके जातरूप अर्थात् तुरन्त उत्पन्न हुए बालक के जैसे निर्विकार रूप को धारण करना चाहता हूँ।।४५।। गणधर भगवान ने कहा हे राजन्! जो आपने कल्याण/मोक्ष के लिए उद्यम किया है वह बहुत अच्छा है, बहुत अच्छा है, वह उद्योग निश्चय से स्वयं और दूसरों के भी सम्पूर्ण कर्मोंके क्षय के लाभ का कारण है।।४६।। बिना दीक्षा के सकल चारित्र नहीं होता, बिना सकल चारित्र के कर्मों का नाश नहीं होता, उस कर्म

न तं विना सिद्धयति मोक्षसौख्यं, ततो विधेहि स्वमनोगतं त्वम् ।।४७।।
इति प्रणीते गणिना नरेन्द्रस्तत्याज वस्त्राभरणानि तत्र।
बाह्येतरं सर्वपरिग्रहं च, संसार-सन्ताप-निदान-भूतम् ।।४८।।
लुञ्चं वराङ्गः प्रविधाय पञ्च-स्वमुष्ठिभिः स्वस्य शिरोरुहाणाम्।
स्वीकृत्य भद्रां जिनराजमुद्रां, बभूव शिष्यो वरदत्तनाम्नः ।।४९।।
स्वां स्वां विभूतिं क्षणिकां विदित्वा, संसार-भीताः स्वहितोद्यताशाः।
अन्ये विरक्ता बहवो महीशाः, प्रवव्रजुस्तेन समं तदानीं ।।५०।।
वणिक्पतिः सागरवृद्धिनामा, विवृद्ध-हर्षो हत-मोहशत्रुः।
समं कुमारेण वराङ्गनाम्ना, तदा प्रव्रवाज विशुद्धभावः ।।५१।।
तौ देवसेनाजित-नामधेयावमात्यवर्यौ विशदान्तरङ्गौ।
अनन्तचित्रौ सचिवौ विदग्धौ, प्राव्राजिषुस्तत्र मुमुक्षुवस्ते ।।५२।।
वराङ्गराजस्य समस्तभार्याः शुद्धैक-वस्त्रात्त-परिग्रहाश्च।
समीपमाप्य श्रमणार्यिकाणां, प्रवव्रजुः पार्थिव-कामिनीभिः ।।५३।।
जिनेन्द्रधर्मातिशयं विलोक्य, लोकाः स्वचित्ते सुरुचिं वहन्तः।
सागार-धर्मं कतिचित्समापुर्भद्रा बभूवुः परिणामतोऽन्ये ।।५४।।
श्रीधर्मसेनप्रमुखाः क्षितीशा, मुनेर्वराङ्गस्य गुणानुदारान्।

के नाश के बिना मोक्ष सुख की सिद्धि नहीं होती, इसलिए आप अपने मन की अभिलाषा को पूर्ण करो ।।४७।। इस प्रकार गणधर देव के द्वारा कहे जाने पर वहीं पर राजा वरांग ने वस्त्र आभूषणों और संसार के संताप के कारणभूत सभी बाहरी-भीतरी परिग्रह को छोड़ दिया ।।४८।। राजा वरांग अपनी पंच मुष्ठियों के द्वारा अपने केशों का लुंचन कर भद्र/कल्याणकारी जिनमुद्रा को स्वीकार करके वरदत्त नामक गणधर का शिष्य हो गया ।।४९।। अपनी-अपनी विभूति को क्षणिक मानकर संसार से भयभीत अपने हित में तत्पर आशा वाले अन्य बहुत से राजा विरक्त हो उस समय उस वरांग राजा के साथ दीक्षित हो गये ।।५०।। जीत लिया है मोह रूपी शत्रु को जिसने, बढ़ रहा है हर्ष जिसका ऐसे विशुद्ध मन वाले सागरवृद्धि नामक वणिक्पति ने भी उस समय वरांग नामक कुमार के साथ दीक्षा ले ली ।।५१।। जिनका मन निर्मल हैं, उन देवसेन और अजितसेन नामक मंत्री-श्रेष्ठों ने, विद्वान् अनंत वा चित्र उन दोनों मंत्रियों ने वहाँ पर मोक्ष की इच्छा से दीक्षा ग्रहण करली अर्थात् वे सब मोक्ष के इच्छुक दीक्षित हो गये ।।५२।। एक शुद्ध वस्त्र के आश्रय मात्र परिग्रह वालीं वरांग राजा की सभी पत्नियाँ, अन्य राजाओं की स्त्रियों के साथ श्रमणा आर्यिकाओं की समीपता को प्राप्त कर दीक्षित हो गईं ।।५३।। जिनेन्द्र भगवान् के धर्म के अतिशय को देखकर लोग अपने मन मेंअच्छी रुचि सम्यग्श्रद्धा को धारण करते थे कोई गृहस्थ धर्म को प्राप्त हुए और कोई अन्य परिणामों से भद्र हुए ।।५४।। श्री धर्मसेन हैं प्रमुख जिनमें ऐसे वे सभी राजा, वरांग मुनि के

हृदि स्मरन्तो वचसा स्तुवन्तो, निवृत्य सर्वे स्वपुरं समीयुः ॥५५॥
ततोगभीरध्वनिना गणेशः, क्षान्त्यादि-भेदैर्दशधा चचक्षे।
धर्मं वराङ्गादि-महामुनिभ्यस्तदुक्त-तत्त्वग्रहणोत्सुकेभ्यः ॥५६॥
गुप्तिभेदाः समितिप्रभेदा व्रतप्रभेदाश्च पृथक् पृथक् ते।
त्रिपञ्चपञ्चक्रमतः प्रसिद्धाश्चारित्र-मेतत्कथयन्ति तज्ज्ञाः ॥५७॥
शल्यत्रयं गारव-दण्डयोश्च, षट्कं भवोत्पत्तिकरं तु हेयम्।
अवश्य-मावश्यक-कर्मषट्कं संसार-संहारकरं विधेयम् ॥५८॥
हास्यादिषट्कं पुरुषादिवेद-त्रयं तथैते नव नोकषायाः।
क्रोधश्च मानश्च परा च माया, लोभस्तथैते हि चतुः कषायाः ॥५९॥
चतुर्द्धा च भवन्त्येते, चत्वारोऽपि पृथक् पृथक्।
आद्योऽनन्तानुबन्धी चाप्रत्याख्यानो द्वितीयकः ॥६०॥
प्रत्याख्यानं तृतीयश्च, तुर्यः संज्वलनाह्वयः।
षोडशैते तु सर्वेऽपि, मिलिताः पञ्चविंशतिः ॥६१॥
पंचप्रकारमिथ्यात्वं, कषायै-रखिलैः सह।
पञ्चसंसार-नाशाय, सदा हेयं महात्मभिः ॥६२॥

उदार गुणों को हृदय में स्मरण करते हुए तथा वचनों से स्तुति करते हुए लौटकर अपने नगर को आ गये ॥५५॥ उसके बाद उनके द्वारा कहे हुए तत्त्वों के ग्रहण करने में उत्सुक वरांग आदि महामुनियों के लिए गणधर स्वामी ने गंभीर वाणी के द्वारा क्षमादि के भेद से दस प्रकार के धर्म को कहा ॥५६॥ उस धर्म के जानकार क्रम से गुप्ति के तीन भेद, समिति के पाँच भेद और व्रतों के पाँच भेद अलग-अलग हैं, ये चारित्र के प्रसिद्ध तेरह भेद हैं ॥५७॥ तीन शल्य—माया, मिथ्या, निदान; तीन गारव—सात गारव, ऋद्धि गारव, रस गारव और तीनदण्ड— मनोदण्ड, वचनदण्ड, कायदण्ड इस प्रकार ये छह संसार की उत्पत्ति करने वाले होने से छोड़ने योग्य हैं अवश्य करने योग्य संसारका विनाश करने वाले समता, वन्दना आदि छह आवश्यकों को करना चाहिये ॥५८॥ हास्यादि छह—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद व नपुंसक वेद ये तीन वेद ये नौ नोकषाय हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ इसी तरह ये चार कषाय हैं ॥५९॥ ये क्रोधादि चारोंकषायें भी अलग-अलग चार प्रकार की होती हैं, पहली अनंतानुबंधी--क्रोध, मान, माया, लोभ। दूसरी अप्रत्याख्यानावरण संबंधी—क्रोध, मान, माया, लोभ। तीसरी प्रत्याख्यानावरण संबंधी—क्रोध, मान, माया, लोभ। चौथी संज्वलन संबंधी—क्रोध, मान, माया, लोभ इस प्रकार ये सभी सोलह कषायें और नौ नोकषाय मिलकर पच्चीस कषायें हो जाती हैं ॥६०-६१॥ सभी कषायों के साथ पाँच प्रकार के मिथ्यात्व को पाँच प्रकार के संसार के नाश के लिये महात्माओं के द्वारा सदा छोड़ना चाहिए ॥६२॥ जो जीवों को चतुर्गति रूप संसार में भटकाते,परतन्त्र करते हैं, उन्हें कर्म

कर्मैकं द्रव्य-भावाद् द्विविध-मपि पुनश्चाष्टधा भिद्यतेऽष्टौ।
चत्वारिंशच्छतं तज्जिनकथितमत-मसंख्यात-लोकप्रमाणं ॥६३॥
भेदा बन्धोदयानां पटुतरमतिभिश्चोहनीयाश्च सत्वं।
ज्ञात्वा नाशाय तेषां सुतपसि निरताः सन्तु निर्ग्रन्थ-सार्थाः ॥६४॥
नित्यं तिर्यग्गति-जनिकरं त्याज्य-मार्त्तं च रौद्रं।
ध्यानं नेष्ठं प्रकट-नरकक्लेश-कौशैक-मूलम् ॥
धर्मध्यानं नर-सुर-गतौ, सौख्यदं दीर्घ-कालम्।
शुक्लध्यानं शिवगति-सुखप्राप्ति-मिष्टां करोति ॥६५॥
पदार्थान्नवद्रव्य-षट्कं पञ्चास्तिकायांश्च ये सप्ततत्वानि सम्यक्।
सदा भावयन्त्यात्मचित्ते विशुद्धया, मुनयचेति ते मोक्षसौख्यं लभन्ते ॥६६॥
इति तदीरित-धर्म-ममुं परं, वरचरित्र-धियो नवसंयताः।
हृदि निधाय विनम्य गणाधिपं, स्थविर-योगि-समीप-मुपाश्रिताः ॥६७॥
अनशनादि-तपोनिरतक्रियो ह्यनय-दात्मवपुः कृशतां परम्।
शमदमामृतपानकृतादरो, धृतिमवाप वराङ्गमहामुनिः ॥६८॥

कहते हैं अथवा जो जीव में मिथ्यात्वादि परिणामों को उत्पन्न करते हैं वे कर्म कहलाते हैं। कर्म सामान्य से एक प्रकार का है, द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म की अपेक्षा दो प्रकार का है, स्वभाव/प्रकृतिकी अपेक्षा कर्मों के ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय ऐसे आठ मूल भेद हैं। उत्तरभेद १४८ हैं वह जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कथित मत में असंख्यात लोक प्रमाण भेद, बन्ध, उदय सत्व आदि की अपेक्षा से अति कुशल बुद्धिमानों के द्वारा जानने योग्य हैं, उनको जानकर उनके नाश के लिए निर्ग्रन्थ/मुनिजनरूपी वणिक् सुतप में लीन होवें ॥६३-६४॥ सदा तिर्यग्गति में उत्पन्न करने वाला आर्त ध्यान छोड़ने योग्य हैं, प्रकट रूप से नरक के क्लेश के कोष का मुख्य कारण रौद्रध्यान इष्ट/हितकारी नहीं हैं, लम्बे समय तक मनुष्य और देवगति के सुख को देने वाला धर्मध्यान है। शुक्लध्यान इष्ट शिवगति (मोक्ष) के सुख की प्राप्ति को करता है ॥६५॥ जीवादि नव पदार्थों को, जीव पुद्गलादि छह द्रव्यों को काल द्रव्य को छोड़कर जीवादि बहुप्रदेशी पंच अस्तिकायों और जीवादि सात तत्त्वों को जो अच्छी तरह से सदा विशुद्धिपूर्वक अपने मन में भाते हैं, विचार करते हैं, वे मुनि मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं ॥६६॥ उत्कृष्ट चारित्र की बुद्धि वाले नव दीक्षित मुनियोंने इस प्रकार उन गणधर भगवान के द्वारा कहे हुए इस परम धर्म को हृदय मेंधारण कर गणधर स्वामी को नमस्कार कर स्थविर (मुनिधर्म की मर्यादा में स्थिर करने वाले आचार्य) योगी की निकटता को प्राप्त हुए ॥६७॥ वरांग महामुनि अनशनादि बारह प्रकार के तपों में स्थिर रहने लगे, अपने शरीर को परम कृशता (क्षीणता) को प्राप्त कराया शुभ परिणामों की शान्तता, दम--इन्द्रियदमन रूपी अमृतपान में किये हुए आदर वाले धैर्य को प्राप्त हुए ॥६८॥

तपन-दीधिति-तप्त-शिलाकणं, कठिन-कण्टककोटितृणाकुलम्।
गगन-मध्य-गते च दिवाकरे, प्रविजहार मुनिः स धरातलम्॥६९॥
विहरतः पथि यत्र मुनेर्भवेद्, दिनकरोऽस्तमयो रजनीमसौ।
नयति कायविसर्जन-योगतो, न चलति त्रिदशैरपि चालितः॥७०॥
प्रतिदिशं तु तडिद् घन-गर्जिते, सुरप-चाप-विभूषित-पुष्करे।
उरग-सिंह-समाकुल-कानने प्रबल-मारुत-कम्पित-पादपे॥७१॥
चलितवारि-परिप्लुतभूतले, विलुलिताखिल-मार्गपतद्-द्रुमे।
सतत-वृष्टिकरे जलदागमे, तरुतले स निनाय निशां मुनिः॥७२॥
मकर-राशिगते सति भास्करे, मृदु-महीरुह-पल्लव-दाहिनि।
हिमकणोदरमारुतवाहिनि, शशि सहाययुते शिशिरागमे॥७३॥
निशि वने वसतिं कुरुते कृती विगत-भीति-रकम्पित-विग्रहः।
गृह-महीरुह-वस्त्रहुताशनाश्रय विहीन-मतिः स महामुनिः॥७४॥
दिनकरस्य करैः परितापनाज्,-ज्वलित-शैल-शिला-धरणीतले।
पवन-चार-विवर्जित-दिङ्मुखे, विगत-वारि-तडाग-नदीनदे॥७५॥
अतिविवृद्ध-निदाघ-समागमे, गगन-मध्य-गते तरणौ मुनिः।
तरुगुहासलिलाश्रय-दूरगे, स्थिति-मवाप धराधर-मस्तके॥७६॥युग्मं॥

सूर्य की किरणों से तपी शिलाओं के कण वाले कठोर काँटों के अग्रभाग/नोकों और तृण/घास से व्याप्त पृथ्वीतल पर सूर्य के आकाश के बीच में जाने पर वह वरांगमुनि विहार करते थे॥६९॥ जहाँ मार्ग में मुनि के विहार करते हुए सूर्य अस्त हो जाता वहीं वह वरांग मुनि रात्रि को कायोत्सर्ग के योग से व्यतीत करते थे देवों के द्वारा भी विचलित करने पर योग से चलित नहीं होते थे। प्रत्येक दिशा में बिजली से सहित मेघ के गरजने पर इन्द्र धनुष से सुशोभित आकाश में, सर्प और सिंहों से भरे हुए जंगल में तीव्र वायु से काँपते हुए वृक्षों में चलते हुए पानी से डूबे हुए पृथ्वी तल में मुड़ते-हिलते सभी जगह गिरे हुए वृक्षों में निरन्तर वर्षा करने वाले मेघों के आने पर वह वरांग मुनि वृक्ष के नीचे रात्रि को व्यतीत करते थे॥७०-७१॥ कोमल वृक्षोंके पत्तों को जलाने वाले सूर्य के मकर राशि में आ जाने पर शीतल कण है उदर में जिसके ऐसी वायु के चलने पर चन्द्रमा की सहायता से युक्त शिशिर काल के आने पर भय से रहित अकम्पित शरीर वाले पुण्यात्मा, घर, वृक्ष, वस्त्र, अग्नि से रहित बुद्धि वाले वह वरांग महामुनि रात्रि मेंवन में निवास करते थे॥७३-७४॥ सूर्य की किरणों द्वारा सब ओर तपन से जलते हुए पर्वत शिला वाले पृथ्वी तल में, वायु के संचार से रहित दिशा मुख में, जल से रहित तालाब, नदी और सरोवर में, अत्यन्त बड़े हुए ग्रीष्म काल के आने पर आकाश के मध्य में सूर्य के आने पर वृक्ष गुफा जल के आश्रय से दूर वरांग मुनि पर्वत के मस्तक पर स्थिरता को प्राप्त हुए॥७५-७६॥ उसके बाद यति समूह के द्वारा वंदनीय

चतुर्थ-षष्ठाष्टम-पक्ष-मासोपवासपूर्वं　　दुरितौघशान्तये।
चकार घोरं यतिवृन्दवन्द्यस्[1]ततस्तपस्वी बहुधा निरीहः।।७७।।
यथागमोक्तं सकृदन्हि-भुङ्क्ते, स्वकीय-कायस्थितयेऽपि कायम्।
धत्ते जितात्मा तपसोऽभिवृद्ध्यै, तपः करोत्यक्षय-सौख्य-सिद्ध्यै।।७८।।
बाह्येतरं　द्वादश-भेदभिन्नं,　तपोऽभितप्तं　मुनिपुङ्गवेन।
यत्तत्कथं सर्वकलङ्क-मुक्तं, वक्तुं क्षमो मन्दमतिर्नरोऽहम्।।७९।।
मन्दत्व-माप्तेऽखिल-कर्मबन्धे, पापप्रणाशे सुकृताभिवृद्ध्यै।
नष्टे च मिथ्यात्व-मतिप्रपञ्चे, सम्यक्त्व-मित्रे हृदयं प्रविष्टे।।८०।।
सद्ध्यान-सन्धानमना मुनीन्द्रो विशुद्धलेश्यः स वराङ्गनामा।
स्वायुःक्षये स्वं प्रविसर्ज्य देहं, सर्वार्थसिद्धिं सहसाध्युवास।।८१।।
तपस्विनस्तीव्रमिहायुषोऽन्ते　त्यक्त्वा　शरीराण्यमलान्तरङ्गाः।
राजर्षयोऽन्येऽपि समुद्र-वृद्ध्यादयो ययुः संयमिनश्च नाकम्।।८२।।
कृत्वा तपोऽमोघ-मनल्प-कालं, पल्यो वराङ्गस्य विमुक्त-चित्ताः।
समाधिनाङ्गानि विसृज्य सर्वागता यथार्हं त्रिदिवं सुवृत्ताः।।८३।।
सर्वार्थसिद्धेस्तु महाविमानात्, च्युत्वा पुनः कर्म-मही-मवाप्य।

१. तपस्।

बहुत प्रकार से निरीह/इच्छा से रहित तपस्वी वरांग मुनि ने पाप समूह की शान्ति के लिए एक उपवास, दो उपवास, तीन उपवास, पक्ष-पंद्रह दिन का उपवास और एक माह के उपवास पूर्वक घोर तप को किया ।।७७।। वे वरांग मुनि शास्त्र मेंकहे अनुसार अपने शरीर की स्थिरता के लिए दिन मेंएक ही बार भोजन करते थें वे जितेन्द्रिय तप की अभिवृद्धि के लिए शरीर को धारण करते हैं और अक्षय सुख की सिद्धि के लिए तप को करते थे ।।७८।। मुनि श्रेष्ठ वरांग ने बारह भेद में विभक्त बाह्य आभ्यंतर सर्व कलंक से मुक्त जो तप को तपा उसको मैं मंदबुद्धि वाला मनुष्य कहने को कैसे समर्थ हो सकता हूँ ।।७९।। सभी कर्मबन्ध में मंदता प्राप्त होने पर, पाप के विनाश होने पर, पुण्य अभिवृद्धि के लिए मिथ्यात्व बुद्धि के प्रपंच के नष्ट होने पर, हृदय में सम्यक्तव रूपी मित्र के प्रविष्ट होने पर सद्ध्यान के सन्धान में मन लगाने वाले विशुद्ध शुक्ल लेश्या के धारक, वह वरांग नामक मुनींद्र अपनी आयु के क्षय होने पर अपने शरीर को समाधिपूर्वक त्याग कर शीघ्र सर्वार्थसिद्धि विमान में जाकर विराजमान हो गये ।।८०-८१।। यहाँ पर निर्मल मन वाले तीव्र तप करने वाले आयु के अन्त में शरीर को छोड़कर अन्य सागरवृद्धि आदि राजर्षि मुनि जन भी स्वर्ग को गये ।।८२।। मोह से रहित मन वाली वरांग राजा की अनुपमा आदि पत्नियों ने बहुत काल पर्यन्त सार्थक तपश्चरण को करके समाधि से शरीरों को छोड़कर सम्यक् चारित्र को धारण करने वाली वे सभी यथायोग्य स्वर्ग को गई ।।८३।। ये वरांग राजा नियम से सर्वार्थसिद्धि महाविमान से च्युत होकर, पुनः कर्म भूमि को प्राप्त कर दीक्षा ग्रहण करते हुए सम्पूर्ण कर्मों का नाशकर मोक्ष को जाएँगे

दीक्षां गृहीत्वाखिलकर्मनाशं, कृत्वा शिवं यास्यति वै वराङ्गः।।८४।।
यो मिथ्यात्व-मशेष-दोषकलितं संत्यज्य धत्ते सुधीः।
सम्यक्त्वं हृदि सर्वदा गुणगणागारं स यद्यापदम्।।
ऐश्वर्यात्पतितो नरः पुनरपि प्राप्नोति यत्नात्पदम्।
स्वं (स्वः) सौख्यानि वराङ्गवच्च लभते, मुक्तिं च याति क्रमात्।।८५।।
एतन्मन्दधिया मया सुचरितं सङ्क्षेपतः कीर्तितं।
सम्यक्त्वैक - मतेर्वराङ्ग - नृपतेः, प्रख्यात - कीर्तेर्जनाः।।
ये शृण्वन्ति पठन्ति निर्मल - धियः, स्वर्मोक्ष - सौख्यार्थिनः।
ते कल्याणपरम्परा सुयशसा, सन्तो लभन्तेऽवनौ।।८६।।
स्वस्तिश्रीमूलसङ्घे, भुवि विदितगणे, श्रीबलात्कार-संज्ञे।
श्रीभारत्याख्यगच्छे, सकलगुणनिधिर्वर्द्धमानाभिधानः।।
आसीद्भट्टारकोऽसौ सुचरित-मकरोच्छ्रीवराङ्गस्य राज्ञो।
भव्यश्रेयांसि तन्वद् भुवि चरित-मिदं वर्ततामार्क-तारम्।।८७।।
प्रमाणास्य काव्यस्य श्लोका ज्ञेया विशारदैः।
अनुन्टुप्पदसंख्याया गुणेभाग्नीन्दुसम्मिताः।।८८।।

श्रीपरवादिदन्तिपञ्चाननश्रीवर्द्धमानदेवभट्टारक वराङ्गचरित्रे सर्वार्थसिद्धिगमनो नाम त्रयोदशः सर्गः ।।

।।८४।। जो बुद्धिमान सभी दोषों से व्याप्त मिथ्यात्व को छोड़कर हृदय में हमेशा गुण समूह के घर सम्यक्त्व को धारण करता है वह मनुष्य अगर आपत्ति और ऐश्वर्य से पतित हुआ है तो भी पुनः प्रयत्न से अपने पद को प्राप्त करता है, वरांग के समान स्वर्गसुखों को प्राप्त करता है और क्रम से मोक्ष को जाता है ।।८५।। जिसकी कीर्ति सर्वत्र सभी जगह प्रसिद्ध है जिसकी बुद्धि सम्यक्त्व में दृढ़ है ऐसे वरांग राजा का यह सुन्दर चरित्र मुझ मंद बुद्धि वाले वर्धमान कवि के द्वारा संक्षेप से कहा गया है। जो स्वर्ग-मोक्ष के सुख को चाहने वाले निर्मल बुद्धि पुरुष उस शास्त्र को सुनते हैं अथवा पढ़ते हैं वे संत पुरुष पृथ्वी पर उत्तम यश के साथ कल्याण की परम्परा को प्राप्त करते हैं ।।८६।। पृथ्वी पर प्रसिद्ध स्वस्ति रूप मूल संघ में श्री बलात्कार नामक गण में श्री भारती नामक गच्छ में सम्पूर्ण गुणों की खान यह वर्धमान नामक भट्टारक था इसने वरांग राजा के उत्तम चरित्र को रचा, पृथ्वी पर यह चरित्र भव्यों का कल्याण करे और जब तक सूर्य तारे हैं तब तक पृथ्वी पर रहे ।।८७।। इस काव्य के अनुष्टुप पदों की संख्या का प्रमाण गुण ३, इभ/गज ८, अग्नियाँ ३, चंद्रमा १ 'अंकानां वामतो गतिः' इस नियम के अनुसार १ चंद्रमा ३ अग्नि ८ हाथी ३ गुण इस प्रकार १३८३ श्लोक प्रमाण विद्वान लोगों से जानना चाहिए।

इस प्रकार परवादी रूपी हाथी के लिए सिंह स्वरूप श्री वर्धमान भट्टारक के द्वारा विरचित वरांग चरित्र में वरांग का सर्वार्थसिद्धि गमन नामक तेरहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।।८८।।

।। शुभं भूयात् ।। समाप्तेऽयं ग्रन्थः।।।